Ph.D Thesis

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में बदलते पारिवारिक सन्दर्भ

(SWATHANTRYOTHAR HINDI NATAKOM MEIN BADHALTHE PARIVARIK SANDARBH)

अनीश के.एन.

ANEESH K.N.

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI-682022

Feb 2012

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में बदलते पारिवारिक सन्दर्भ

SWATHANTRYOTHAR HINDI NATAKOM MEIN BADHALTHE PARIVARIK SANDARBH

Thesis submitted to

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

For the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

अनीश के.एन.

ANEESH K.N.

Prof.(Dr.) R.SASIDHARAN
Head of the Department

Prof.(Dr.) P.A. SHEMIM ALIYAR
Supervising Teacher

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI-682022

Feb 2012

Certificate

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by ***Mr. ANEESH K.N.*** *under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any other University.*

Dr. P. A. SHEMIM ALIYAR
Supervising Teacher
Emeritus Professor
Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochin -22

Place: Kochi

Date:

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of **Dr. P.A. SHEMIM ALIYAR**, Emeritus Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi -22, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other University.

Aneesh K.N.
Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochin-22

Place: Kochi
Date:

भूमिका

साहित्य समाज संबद्ध है । साहित्य का लक्ष्य मानव को परिवर्तित करने में अपनी बेज़ोड भूमिका निभाना तथा समय सापेक्ष्य परिवर्तन को लेखा बद्ध करना है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो समाज को शिवमय बना देना साहित्य का ही फर्ज है। कभी कभार वह एक शस्त्र का रूपधारण करके सामाजिक विद्रूपताओं के विरुद्ध वार करता है । कभी कभी आम आदमी के पक्षधर होकर उसके भावों एवं विकारों को गति पैदा करता है । ह्रदय से निकलनेवाला सहित्य सह्रदय समाज को शिक्षित, सुसंस्कृत करके आगे ले चलने में कामयाबी प्राप्त करता है । सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से मानव ह्रदय को द्रवीभूत करना साहित्य का ही मकसद है । इन साहित्यिक विधाओं में नाटक सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वह अपने दृश्य-श्रृव्य गुण के वास्ते सभी पाठकों में गहरा प्रभाव डालते है चाहे पाठक साक्षर हो या निरक्षर । अतः नाटकों को सफल सक्रिय हथियार ही मान लेता है । प्रभावात्मकता की द्रष्टि से सशक्त नाटक सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध संघर्ष उपस्थित करता है ।

मानव की उत्पत्ति से लेकर आज तक की सामाजिक व्यवस्था में परिवार का स्थान महत्वपूर्ण है । सामाजिक संरचना को बनाये रखने में परिवार का ही हाथ है, इतना ही नहीं सामाजिक मूल्यों को बरकरार

रखने में भी इसका ही महत्व है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसके सामाजिक अस्तित्व की रक्षा केलिए कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य है।एसी शिक्षा देने के संदर्भ में परिवार की भूमिका अहम है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवार ही सबसे श्रेष्ठ इकाई है जो नई पीढी को जन्म देने के साथ साथ मृत्युपरांत रिश्ते को भी छोडता नहीं। अत: सनातन भारतीय संस्कृति में परिवारिक अवधारणा उसकी गरिमा को ऊपर उठाती है। व्यक्ति के विकास में भी इसका प्रभाव सशक्त है। पारिवारिक ढाँचे से ही व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन करने की शिक्षा पाता है। इसके फलस्वरूप पारिवारिक सन्दर्भों में उपजनेवाले अवसाद पूरे सामाजिक जीवन को भी खो देने में सक्षम है। आज संसार में भारत ही एकमात्र राष्ट्र है जिसमें ऐसी सुव्यवस्थित पारिवारिक अवधारणा है । सामाजिक संरचना परिवार पर ही निर्भर है तो पारिवारिक जीवन का महत्व उल्लेखनीय है । इसलिए बदलते हुए पारिवारिक जीवन को अध्ययन का विषय बनाना अनिवार्य है। इसकी महत्ता को समझकर साहित्य की सभी विधाओं में सब से प्रभावशाली नाटकों में अभिव्यक्त बदलते हुए पारिवारिक जीवन को मैंने अपना शोध विषय के रूप में स्वीकारा है। आज के मूल्यहंता ज़माने में ऐसा विषय काफी प्रासंगिक है क्योंकि सामजिक भलाई हमारा प्रथम दायित्व है। पारिवारिक संरचना की रक्षा से राष्ट्र की रक्षा भी संभव है ।

'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में बदलते पारिवारिक संदर्भ' मेरा शोध विषय है । अध्ययन की सुविधा के लिए मैंने संपूर्ण सामग्री को पाँच अध्यायों में विभाजित रखा है । इन अध्यायों में पारिवारिक जीवन में बदलाव डालनेवाली विभिन्न इकाईयों का विश्लेषण किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का पहला अध्याय है-**'बदलते मूल्य और परिवार'** । इसमें भारतीय मूल्य परिकल्पना की आधारशिलाओं को प्रस्तुत करके, सामजिक जीवन की महत्ता को दिखाने का प्रयास किया है, साथ ही साथ परिवार की सार्वभौमिकता पर विचार किया गया है । भारतीय पारिवारिक अवधारणा केवल भौतिक ही नहीं आध्यात्म से भी ओतप्रोत है । इसमें परिवार का समाज कल्याण्कारी रूप रेखांकित किया गया है ।

'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पारिवारिक जीवन एवं पीढी संघर्ष' इस शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय है । बदलते हुए सामाजिक वातावरण में पीढी दर पीढी के बीच की टकराहट को इसमें प्रस्तुत किया है । आज़ादोत्तर सामाजिक वातावरण में अनुज और अग्रज पीढी कितने अनुदार और संवेदनहीन है उसको गहरी संवेदना के साथ अनावृत किया है । ऐसे संघर्ष से सामाजिक जीवन जितना दूभर बन जाता है,उसको भी अभिव्यक्ति किया गया है ।

तीसरा अध्याय है **'महानगरीय जीवन और परिवार'** । इसमें औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उपजी उपनिवेशवादी ताकतों का प्रादुर्भाव तथा औद्योगीकरण का चित्रण हुआ है । यहाँ परिवेशानुसार पारिवारिक जीवन में बदलाव आने लगता है । नाटकों में अभिव्यक्त शहरीकरण को प्रस्तुत करके उसी संघर्षपूर्ण परिस्थिति में टूटते हुए परिवार को चित्रित किया गया है । अर्थाभाव जीवन को नरकीय बना देते है तो ऐसे सन्दर्भों में मूल्यों का स्थान कैसे मिट जाता है ,उसका भी चित्रण उपलब्ध है।

'कामकाजी नारी और परिवार' इस शोध प्रबन्ध का चौथा अध्याय है । आज शिक्षा के ज़रिए नारी आर्थिक स्वतंत्रता पा रही है । नर के साथ कन्धे से कन्धे मिलाने केलिए तैयार हुई नारियाँ कभी कभी शोषण की शिकार बन जाती है । शिक्षित नर आज भी नारी को उपभोग की सामग्री ही समझते है , अतः निगलने को आतुर होकर नारी जीवन को कुचल डालने में वह हिचकता नहीं । इतना भी नहीं पत्नी कामकाजी बनने से उसके पारिवारिक जीवन में मनमुठाव भी पैदा होते है । आज तक नारी समझौता करने को मंज़ूर थी लेकिन आज वह अपने अहं को छोडने के लिए तैयार नहीं है । आर्थिक सुरक्षा ने तलाक की समस्या को भी पैदा की । तलाकशुदा पति-पत्नियों की संतानों का दर्दनाक जीवन भी चित्रित है ।

इस शोध प्रबन्ध का पाँचवाँ अध्याय है **'भूमण्डलीकरण और परिवार'**। बाज़ारवादी युग में हर चीज़ को उसकी कीमत पर देखते है। वैश्वीकृत समाज में अपने संबन्धों को भी नहीं, अपने आपको बिकाऊ बना देते है । विज्ञापन के कारण आम आदमी अपना सबकुछ खो बैठता है । धन दौलत पाने केलिए अपने बच्चों को भी बेचने में मातागण हिचकते नहीं । इतना भी नहीं आज पति-पत्नी के बीच भी अमानवीय शोषण जारी रही है। इसप्रकार मंडीकरण ने सभी सामाजिक मूल्यों को कुचल डाला है । उनका लक्ष्य ठीक ही हमसे हमारी सभ्यता और संस्कृति चुराना है। इसलिए उन्होंने पहले पारिवारिक संबन्धों को त्रस्त कर दिया।

अंत में उपसंहार है। उसमें प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों को संक्षेप में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय की प्रो. डॉ. पी.ए. शमीम अलियार जी के निर्देशन एवं निरीक्षण में तैयार किया गया है । उनकी प्रेरणा एवं समयानुकूल निर्देशन से यह कार्य संपन्न हुआ। समय समय पर मेरी शंकाओं का समाधान करते हुए, प्रोत्साहन देनेवाले उनके सौहार्दपूर्ण व्यक्तित्व ने ही मुझे यहाँ तक पहूँचने को सक्षम बनाया है। मेरे शोध कार्य को सफल बनाने में उन्होंने

जो सुझाव एवं उपदेश दिये, उनके लिए मैं तहे दिल से कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

मेरे इस शोधकार्य के विषय विशेषज्ञ प्रो.डॉ. एन. मोहनन जी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उन्होंने मेरी काफी मदद की है। वे मेरे शोध कार्य को उचित दिशा निर्देशन में हमेशा सजग रहे हैं। उन्होंने मेरे प्रति असीम स्नेह दिखाया है। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

विभाग का अध्यक्ष प्रो.डॉ. शशिधरन जी के प्रति मैं आभारी हूँ। उन्होंने इस शोध कार्य को सार्थक बनाने में काफी प्रेरणा दी है। उनके प्रति मैं सदैव आभार रहूँगा।

विभाग के अन्य सभी गुरुजनों के प्रति मै तहे दिल से आभार प्रकट करता हूँ।

पुस्तकालय के सभी कर्मचारियों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ कि जिन्होंने इस शोध कार्य को सुगम बनाने केलिए काफी सहयोग दिये है।

मैं अपने प्रिय मित्रों के प्रति भी आभारी हूँ। वे मेरी छोटी-छोटी जरूरतों के लिए बिना किसी हिचक के सदा उपस्थित रहे। मेरे प्रिय मित्र जोयिस ने इसके लिए बहुत ही सहयोग दिया है,उसके लिए मैं आभार प्रकट करता हूँ। प्रिय मित्र प्रदीप ने भी सहायता दी उसको भी

मैं आभार प्रकट करता हूँ। मित्रगण अनीश ,मनीष,बिबिन और गिरीश ने भी इसकेलिए शोधकार्य में सहायता दी उसके लिए भी मैं सर्वथा आभार हूँ। प्रिय भाई दीपक ,राजन ,संजीव और सजी कुरुप को भी मैं अपना धन्यवाद देता हूँ।

यह शोध प्रबन्ध सविनय विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसकी कमियों तथा गलतियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सादर
अनीश के. एन

हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन -22
तारीख :

विषय सूची

पहला अध्याय 1-37

बदलते मूल्य और परिवार

मूल्य अर्थ और परिभाषा – भारतीय आचार्यों के अनुसार मूल्य संबन्धी अवधरणा- धर्म- अर्थ- काम- मोक्ष- पाश्यात्य आचार्यों के अनुसार मूल्य संबन्धी अवधारणा- मूल्य समाजवादी नज़रिए से- मूल्य हिन्दी साहित्यकारों की नज़रिए से- मूल्यों का वर्गीकरण- मूल्य परिवर्तन: दशा और दिशा- परिवार अर्थ और परिभाषा- परिवार की प्रमुख विशेषताएँ- परिवार के प्रकार- निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय 39-85

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पारिवारिक जीवन एवं पीढी संघर्ष

हिन्दी नाटकों में परिवारिक जीवन एवं पीढी संघर्ष – विष्णु प्रभाकर- टूटते परिवेश- मोहन राकेश- लहरों के राजहंस- आधे अधूरे- लक्ष्मीनारायण लाल - अंधा कुआँ - मदा कैक्ट्स- दर्पन- रातरानी- शंकर शेष- रत्नगर्भा- बिना बाति के दीप – घरौंदा- निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय 87-128

महानगरीय जीवन और परिवार

ग्रामीण सभ्यता का विस्थापन और महानगरों का प्रादुर्भाव – महानगरीय जीवन की बहुआयामी समस्याएँ- रोज़ी रोटी की समस्या-

महानगरीय सन्दर्भों में परिवार- महानगरीय यांत्रिकता में टूटते परिवार- विसंगतियों से टूटते बनते संबन्ध- विकृतियों को उकसाती यांत्रिक सभ्यता- महानगरीय मूल्यहंता परिवार और समाज- निष्कर्ष ।

चौथा अध्याय 129-185

कामकाजी नारी और परिवार

भारतीय समाज में नारी - स्वातंत्र्योत्तर युग में नारी- श्रम के स्त्री पक्ष- कामकाजी नारी और परिवार- कामकाजी नारी के यौन शोषण की समस्या- नौकरी पेशा नारी की स्वतंत्रता- नारी अस्मिता की पहचान के सन्दर्भ में कामकाजी नारी-निष्कर्ष ।

पाँचवाँ अध्याय 187-214

भूमण्डलीकरण और परिवार

भूमण्डलीकरण परिभाषा – उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव- भूमण्डलीकरण और हिन्दी नाटक - निष्कर्ष ।

उपसंहार 215-225

सन्दर्भ ग्रंथसूची 227-262

पहला अध्याय
बदलते मूल्य और परिवार

मूल्य अर्थ और परिभाषा

मूल्य शब्द आज गंभीरता के साथ चर्चा का विषय है। इक्कीसवीं सदी के वैज्ञानिक जीवन में मूल्यों की आवश्यकता को समझाकर मूल्यों के बदलाव से उत्पन्न सामाजिक ह्रास की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना साहित्यकार का उद्देश्य है। सामाजिक संरचना को बनाये रखने में मूल्यों का स्थान शीर्षस्थ है। अतः इस मूल्यों की वरीयता को दिखाकर उसकी पुनस्थापना करना साहित्य का परम लक्ष्य है।

'मूल्य'वास्तव में 'अर्थ' से संबद्ध पारिभाषिक शब्द है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ होता है-विनिमय क्षमता । डॉ.नगेन्द्र के अनुसार "मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलतः साहित्य के शब्द नहीं हैं। पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में भी इसका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्यशास्त्र से किया गया है।"[1] परंतु आज मूल्य शब्द समाजशास्त्र के अंतर्गत काफी प्रचलित है। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबन्ध जोडनेवाले मूल्य शब्द हमारे जीवन में उपयोगिता और व्यापकता का ही परिणाम है।

हिन्दी में प्रयुक्त 'मूल्य'शब्द संस्कृत 'मूल' धातु के साथ 'यत' प्रत्यय जोडकर बनाया है जिसका अर्थ है कीमत,मज़दूरी आदि। "मूलेन

---

[1]डॉ.नगेन्द्र.. विचार और विश्लेषण: पृ-1

अनाभ्यायते अभिभूयते मूलेन समं व इति मूलः अर्थात किसी वस्तु के बदले में मिलनेवाले धन कीमत ।"[1]

मानव जीवन की विभिन्न स्थितियाँ, संघर्ष और अनुभव मूल्यों का जन्मदाता हैं । धर्म और नीतिशास्त्रीय विश्वकोश के अनुसार "मूल्य तथ्य के प्रति अभिकर्ता की मन:स्थिति है जो तथ्य का मूल्यांकन करती है इसका संबन्ध मनुष्य के विचारों, रुचियों, इच्छाओं, आवश्यकताओं, कारणों तथा कार्यों से हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है।"[2]

हिन्दी में 'मूल्य' का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'वेल्यु' शब्द के अर्थ में हुआ है । यह 'वेल्यु' शब्द लेटिन के 'वैलियर' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'अच्छा','सुन्दर' । इसका मतलब इच्छा से है । आर.के .मुखर्जी के अनुसार "जो कुछ भी इच्छित है, वांछित है ,वही मूल्य है ।"[3] इन परिभाषाओं से स्पष्ट होते हैं कि मूल्य एक धारणा या अनुभव है जो मानव से जुडा हुआ है । मानव जीवन से जोडकर डॉ .विमल कुमार ने मूल्य शब्द को यों परिभाषित किया है –"मानविकि के सन्दर्भ में मूल्य

---

[1] सं.जेंस हास्टिंग्स:एंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियण एँट एतिक्स वॉलियम-12:पृ.584

[2]सं.जेंस हास्टिंग्स:एंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियण एँट एतिक्स वॉलियम-12:पृ.584

[3]आर.के मुखर्जी:द सोशल स्ट्रेक्चर ऑफ वेल्युस: पृ.21

का अर्थ है जीवन द्रष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई, जिसे हम सक्रिय भी कह सकते हैं।"[1]

मूल्य वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं का संप्रेषण करता है । इसका संबन्ध हर्ष, विषाद, नैतिकता, आचार, व्यवहार, लक्ष्य, विश्वास आदि तत्वों से हैं जो जीवन और परिवेश से संबन्धित है । अतः "व्यक्ति के मूल्य पूर्णतः परिवेशगत गुणों पर आश्रित हैं । उनका चुनाव भी परिवेशानुसार ही संभव है ।"[2]

मूल्य हमारे आचरण के नियामक तत्व है जो संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक भी है । इसका मूल उद्देश्य सामाजिक विकास तथा व्यक्ति की उन्नति है । इसलिये संस्कृति से जोडकर मूल्य की आलोचना करनी है । इस सन्दर्भ में दिनकर का कथन है- "मूल्य आचरण के सिद्धांतों को कहते हैं । मूल्य वे मान्यताएँ हैं जिन्हें मार्गदर्शक ज्योति मानकर चलते हैं । सभ्यता चलती रही हैं और जिनकी उपेक्षा करने वालों को परंपरा अनैतिक,उच्छृंखल या बागी कहते हैं ।"[3]

इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि मूल्य वह अवधारणा है जो मानव को पशुता से दूर लाकर उसे उन्नति की ओर अग्रसर करती है ।

---

[1]डॉ.विमल कुमार :आलोचना:अक्तूबर-दिसंबर:अंक 67,पृ64

[2]एँगेल वुड्क्लफ: प्रेडिक्शन एँड ऑप्टिमल डिसिशन:पृ359

[3]रामधारी सिंह दिनकर: आधुनिक बोध: पृ.48

वास्तव में यही मूल्य मानव जीवन की आधार शिला है, समाज और संस्कृति के निर्माण इन्हीं के द्वारा ही संभव है । परिस्थिति के अनुरूप मूल्यों में परिवर्तन तो आता है लेकिन समाज कल्याण का भाव उसमें शामिल रहेगा ।

भारतीय आचार्यों के अनुसार मूल्य संबन्धी अवधारणा

भारतीय आचार्यों के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है । इस मोक्ष प्राप्ति केलिए आदर्श जीवन का आह्वान पुराणों में मिलता है । इन सारे पुराण और सूत्रों की रचना उच्च जीवन मूल्यों की स्थापना के उपलक्ष्य में हुई है । इसका मूल उद्देश्य मानव जीवन की सार्थकता है । इस संदर्भ में डॉ.धीरेन्द्र वर्मा का कथन ठीक लगता है "देश की संस्कृति से हम मानव जीवन तथा व्यक्ति के मूल रूप को समझ सकते हैं, जिन्हें देश विशेष केलिए महत्वपूर्ण अर्थात मूल्यों का अधिष्ठान समझा जाता है ।"[1]

मनीषियों के विचारों में धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष आदि जीवन के चार पुरुषार्थ हैं जिसे भारतीय संस्कृति के मूल तत्व कहा जा सकता हैं । ये तत्व वास्तव में मानव के तन,मन,बुद्धि और आत्मा से संबन्धित है । व्याख्या करने केलिए इसे ज़्यादा विस्तार से देखना अनिवार्य है ।

---

[1]सं.डॉ.धीरेन्द्र वर्मा:हिन्दी सहित्यकोश:पृ.802

धर्म

मानव जीवन में धर्म का संबन्ध अनादि काल से है । धर्म सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों के पालन पर ज़ोर देता है । धर्म हमेशा अध्यात्म से जुडा हुआ है । अतः वहाँ उच्च मूल्यों की स्थापना हुई है । "भारतीय प्राचीन साहित्य में धर्म शब्द का विभिन्न द्रष्टिकोणों से व्याख्या की गयी हैं । वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है । इनका संबन्ध गृहस्थ,तपस्वी,ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है । जिन तैतरेय उपनिषद हमसे धर्म का आचरण करने को कहता है तब उसका अर्थ जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है । इस अर्थ में धर्म का प्रयोग गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है ।"[1]

धर्म जीवन मूल्यों को गौरव प्रदान करता है । जीवन का पथप्रदर्शन करने में भी धर्म की अहं भूमिका है । मनुस्मृति में धर्म के बारे में कहते हैं "यह वह अवधारणा है जो मानव जीवन की विविधता,उसकी आकांक्षाओं तथा मानवीय मूल्यों को एकता प्रदान करती है।"[2]

धर्म के आधार अलौकिक है । लेकिन यह लौकिक जीवन को प्रेरणा देती हैं । धर्म मानव जीवन में सत्य, अहिंसा, आत्मसंयम आदि

---

[1]जि.के गोखले:इंडियन तोट्स थ्रु द अजेस:पृ.24

[2]मनुस्मृति :अध्याय-1:पृ.1,2,3

भावनाओं को अभिव्यक्त करके उसे सन्मार्ग की ओर ले जाता है । इसलिए धर्म समाज की नैतिकता के आधार हैं। शिक्षा प्रणालियों में भी धार्मिक मूल्यों को जोडकर व्यक्ति को धर्म विरोधी आचरण करने से बचाता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाये तो प्राचीन समय से धर्म मूल्यों को निर्धारित करनेवाली शक्ति था । धार्मिक आचार्यों ने उत्तम जीवन प्रणाली को खोजकर हमें दिया था। धर्म की मूल भावना वैयक्तिक नही वरण लोकमंगल है। अतः भारतीय आचार्यों के अनुसार मूल्यों के सन्दर्भ में धर्म का स्थान महत्वपूर्ण है।

अर्थ

भारतीय समाज में धर्म से प्राप्त अर्थ को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अर्थ का मतलब भौतिक सुख-सुविधा से है। यहाँ अर्थ धन मात्र न रहकर व्यापक रूप में जीवन मूल्यों के रूप में आता है । अर्थ को 'ज़िम्मेर' ने यों परिभाषित किया है –"अर्थ की अवधारण के अंतर्गत वे समग्र स्पर्शीय अथवा भौतिक वस्तुएँ आ जाती हैं। जिसकी प्राप्ति से उसे प्रयोग में लाया जा सकता है । खोया भी जा सकता है तथा जिन्हें गृहस्थ के भरण-पोषण,परिवार की समृद्धि के लिए धार्मिक कर्तव्य निभाने केलिए अर्थात

जीवन के कर्तव्यों को सदाचार सेपालन करने केलिए जिनकी आवश्यकता होती है।"[1]

वैदिक समाज में अर्थ को जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकारा था। धर्म के समान अर्थ को भी मोक्ष प्राप्ति हेतु उपयोगी माना गया है। वैदिक युग में धन उपयोगी साधन मात्र था लेकिन आज वह जीवन का परम लक्ष्य बन गया है। अर्थ को जीवन मूल्य के रूप में घोषित करने वालों का मूल उद्देश्य इसे वैयक्तिक न मानकर लोकमंगल के रूप में स्वीकार करना है।

काम

भारतीय चिंतन धारा के अनुसार काम ऐन्द्रिक सुख के अर्थ में नहीं लिया गया है। भारतीय आचार्यों ने काम को रागात्मिकावृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। काम मनुष्य की एषणाओं को जगाता है और उसे भौतिक संकल्पों की ओर ले जाता है। केवल वासना को काम की संज्ञा देना अनुचित है। वासनाहीन काम महत्वपूर्ण जीवनमूल्य के अंतर्गत आता है।

मनोवैज्ञानिक द्रष्टि से देखने के कारण जैनेन्द्रकुमार ने प्रयत्न का मूल काम को स्वीकारा है। उनके मतानुसार –"प्रयत्न का मूल है काम – पुरुष क्यों प्रयत्न करते हैं जिसको उद्योग की भाषा में 'इंसेंटीव'कहते हैं।

---

[1]हैंरिच ज़िम्मेर्स:फिलोसोफीस ऑफ इंडिया:पृ.35

वह कहाँ से आता है । ...स्वत्व और स्वामित्व नहीं रहेगा तो प्रयत्न केलिए इंसेंटीव नहीं रहेगा । उसका क्या आवश्य है । आशय यह है कि प्रयत्न कामनाओं से निकलता है । प्रयत्न के मूल में इस तरह काम है फल अर्थ है ।"[1]

वेदों से लेकर सारे धार्मिक ग्रन्थों में काम के महत्व की स्थापना की है । कामाध्यात्म भी इसका परिणाम है । चार्वाक दर्शन में भी धर्म और अर्थ का तिरस्कार एवं काम की वरीयता को स्वीकारा है ।

काम का अर्थ व्यापक है । इसमें धर्म और अर्थ समाहित हैं । तथा मोक्ष का साधन भी है । वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र में जीवन में काम की महत्ता को प्रतिपादित की है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सारे प्राणियों में विद्यमान रागात्मक वृत्ति का नाम है काम । काम भौतिक एषणाओं को जागृत करने के साथ-साथ हमें प्रेरणा भी देते हैं । भौतिक जीवन में आध्यात्मिक जीवन में काम का भी अपना योगदान है । अतः मूल्यों की अवधारणा में काम की भूमिका महत्वपूर्ण है ।

---

[1]जैनेन्द्रकुमार : समय और हम:पृ.208

मोक्ष

मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है । इसका संबन्ध व्यक्ति से है । हर व्यक्ति धर्म, अर्थ एवं काम की साधना करने के पश्चात मोक्ष रूपी चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होती हैं । मोक्ष का मतलब संबन्धों से मुक्ति है । डॉ.देवराज के अनुसार "यही स्थिति आत्मपरीक्षा की होती है, जहाँ समाज से अलग स्वयं हम धर्म पर्यावरण में इतने अधिक वेष्टित होते हैं कि अपने दोषों को देखने लगता है । इस समय से प्राणी सारे दुर्गुणों से वंचित हो जाते हैं एवं संसार में व्याप्त माया तथा सत्य की वास्तविक अनुभूति करने लगता है जिससे अंततोगत्वा आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।"[1]

ब्रह्म साक्षात्कार से अज्ञान एवं अविद्या का नाश होने से जो शुद्धता मिलती है, वहीं मोक्ष है । इस अवस्था को ज्ञानोदय भी कह सकता है । ऐसी स्थिति में ऊँच-नीच,जनन-मरण,सुख-दु:ख सभी साम्य प्रतीत होने लगता है ।

जीवन मूल्यों की द्रष्टि से मोक्ष का सर्वोच्च महत्व है । मूल्यों की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्ष या आध्यात्मिक मनोवृत्ति है । इसकी मुख्यतः दो प्रकार की अभिव्यक्ति होती है ।

---

[1]डॉ.देवराज: संस्कृति के दार्शनिक विवेचन : पृ.176

निष्कर्ष रूप में कहा जाय तो भारतीय आचार्यों ने बहुत ही पहले जीवन मूल्य की स्थापना की है । सामाजिक मूल्यों की आवश्यकता को समझाकर धर्म के साथ उसे जोडकर सामाजिक आदर्शपूर्ण बनाना इसका परम लक्ष्य है । शुक्राचार्य के अनुसार " जो कुछ भी अप्रतिम है, बेजोड है, वह रत्न जैसा ही है । सभी मनुष्यों का मूल्य देश-काल के अनुसार तय होना चाहिये । जो गुणहीन है, वह व्यवहार के योग्य नहीं ,उसका कोई मूल्य नहीं । कामना के अनुसार पदार्थों का मोल हीन या अधिक, कमोबेश होता है ।"[1]

पाश्चात्य आचार्यों की मूल्य संबन्धी अवधारणा

भारत में मूल्य संबन्धी अवधारणा पुरुषार्थ को केन्द्र में रखकर उत्पन्न हुआ तो पाश्चात्य विद्वानों ने नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान को केन्द्र में रखकर अपने विचार प्रस्तुत किया है । पश्चिमी दर्शन में प्लेटो के सिद्धाँतों के साथ मूल्य मीमाँसा का उदय हुआ और अरस्तू के आचार शास्त्र, राजनीति और तत्व विज्ञान में उसका विकास हुआ । भारतीय मूल्यों के पीछे अध्यात्म की अहम पकड है तो यहाँ भोगवादी द्रष्टिकोण नींवाधार है । आगे चलकर हीगल और काण्टे के द्वारा उसमें कला, आचार, और धर्म क़ो जोडा गया ।

---

[1]शुक्रनीति: -2 :पृ.48-49

समाज के संचालन में मूल्यों का ही स्वामित्व है । एच.एम.जॉंसेन मूल्यों के संबन्ध में कहते हैं "मूल्यों को एक धारणा या मान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा वस्तुओं की एक दूसरे से तुलना की जाती है, स्वीकार की जाती है अथवा अस्वीकार किया जाता है –एक दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित,अच्छा या बुरा, ठीक या गलत माना जाता है ।"[1]

मूल्य समाजवादी नज़रिये से

समाजवादी द्रष्टि से मूल्यों की व्याख्या करने वालों में मार्क्स का नाम सर्वप्रथम है । मार्क्स ने पूँजीवादी शोषण व्यवस्था के खिलाफ श्रमिक जनता को खडा किया । ऐसे सामाजिक विषमता को दूर करने केलिए उन्होंने साम्यवादी मूल्यों की प्रतिस्थापना की । श्रम शक्ति के मूल्य को मार्क्स ने यों परिभाषित किया है –"श्रम शक्ति का मूल्य दो तत्वों से बना है –एक बिल्कुल भौतिक और दूसरा ऐतिहासिक या सामाजिक । ऐतिहासिक तथा सामाजिक तत्व भौतिक जीवन का दूसरा नाम है, बल्कि यह उन भागों की संतुष्टि है, जो उन सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती है जिनसे मनुष्य बाँधा होता है और जिनमें उसका पालन-पोषण होता है । यह ऐतिहासिक या सामाजिक

[1]एच.एम.जॉसेन: सोष्योलॉजि ए सिस्टेमेटिक इंट्रोडेक्शन: पृ.49

तत्व श्रम के मूल्यों में प्रवेश करके विकसित भी हो सकता है या संकुचित भी हो सकता है या बिलकुल निर्मूल्य भी हो सकता है । ताकि भौतिक सीमा के अलावा कुछ भी शेष न रह जाए ।"[1]

मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के कारण वर्ग संघर्ष है और उसके साथ मूल्यों का संबन्ध है । वर्ग-संघर्ष से ही पुराने मूल्यों में परिवर्तन एवं परिवर्धन आ जाते हैं ।

मूल्य समाजशास्त्रीय द्रष्टि से

पश्चिम के समाज शास्त्रियों ने मूल्य को नीतिशास्त्र के अंतर्गत माना है । मूल्यों के बिना समाज शास्त्रीय अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा । जिस प्रकार नैतिक धर्म के अनुभावात्मक तत्व है, उसी प्रकार परिपक्व समाजशास्त्र के लिए सामाजिक मूल्य भी अनिवार्य तत्व है । उनके अनुसार सामाजिक जीवन के सर्वश्रेष्ठ तत्व ही मूल्य है । मानव जीवन के अंत:संबन्धों को परिभाषित करने के लिए मूल्यों का योगदान महत्वपूर्ण मानते हैं । समाजशास्त्रियों के अनुसार परम्परा,मूल्य आदि सामाजिक जीवन के मापदण्ड है । "परम्पराएँ, व्यवहार, प्रतिमान व सामाजिक मानदण्ड सामूहिक प्रतिनिधान इसलिए है कि वे समूचे समूह द्वारा

[1]मर्क्स-एंगेल्स: संकलित रचनाएँ-खण्ड-1:पृ.442-43

बनाये जाते हैं तथा समूह के प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा इसका पालन किया जाता है ।"[1]

मूल्य मनोवैज्ञानिक नज़रिये से

कुछ आलोचक मूल्य को मनोवैज्ञानिक द्रष्टि से देखने लगे । यह भी सत्य है कि समाजशास्त्रीय होकर भी मूल्य मात्र दार्शनिक नहीं है । मूल्य मानव स्वभाव से संबद्ध है । अतः मन का शामिल होना ज़रूरी है । इसलिये मनोविज्ञान का इसमें प्रभाव डालना स्वाभाविक है । मानव मूल्य आकाँक्षाओं तथा परितृप्ति से संबन्धित है ।सभी मूल्य चाहे वे वास्तविक हो अथवा संभाव्य,मनुष्य के जैविक तथा सामाजिक प्राणी के रूप में उसकी मूल प्रवृत्तियाँ और इच्छाओं से संबन्धित होते हैं । मूल्यों के परितृप्ति को निर्वैयक्तिक श्रोतों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । मनोवैज्ञानिक द्रष्टि से मूल्य को देखने वालों में फ्रॉयड का नाम उल्लेखनीय है । फ्रॉयड के अनुसार मानव के सारे कर्मों के पीछे काम वासना है । व्यक्ति के अपने समाज,घर,परिवार सबको बनाये रखने के पीछे यही वासना है । जब व्यक्ति की इन भावनाओं में बाधाएँ पड जाने से मन में कुण्ठाएँ जन्म लेती है । इस तरह काम का दमन व्यक्ति को दुराचारी, विक्षिप्त बनाता है । मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अवचेतन मन

---

[1]नरेन्द्रकुमार सिन्धी तथा गोस्वामी:समाजशास्त्र विवेचन:पृ.29

तथा काम वृत्ति और लिबिडो आदि के आधार पर जिन मूल्यों का प्रतिपादन किया है उससे चिकित्सा के क्षेत्र लाभान्वित हुए वहाँ समाज का वह वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता जो इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, दमन, आदि पर बल देता था। एडलर ने उसके बाद कामवृत्ति का जो महत्व दिया । यूंग के विचार में लिबिडो मानव के व्यवहार के मूल में है। इस तरह देखा जाये तो मूल्य संबन्धी अवधारणा में फ्रॉयड, एड्लेर, यूंग की भूमिका महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन्होंने मानव को केन्द्र में रखकर मूल्य को नयी अवधारणा देने की कोशिश की है।

संक्षेप में कहा जाय तो पाश्चात्य चिंतकों ने मानव मूल्य की विविध व्याख्यायें प्रस्तुत की है। उन्होंने समाज, धर्म, नीति, दर्शन, मनोविज्ञान आदि विभिन्न पहलुओं से जीवन मूल्य संबन्धी अपनी अवधारणा निर्धारित की है। विहंगम द्रष्टि से देखा जाय तो प्रारम्भ में जो मूल्य संबन्धी विचार प्रचलित था वह भारतीय चिंतन के अनुरूप था। लेकिन विज्ञान के उदय से इसमें गहरा बदलाव आने लगा। भारतीय मूल्य का आधार अध्यात्म है तो पश्चिमी जगत में व्यक्ति की स्वतंत्रता को वरीयता मिलती है। जो भी हो सामाजिक मंगल दोनों का ही परम लक्ष्य है।

मूल्य: हिन्दी साहित्यकारों की नज़रिये से

मूल्य की सफल परिभाषा देने में समर्थ कई साहित्यकार है । गिरिजाकुमार माथुर के विचारों में मूल्यआदर्शों की ओर इशारा करते हैं। उनका कथन है " मानव मूल्य हमेशा आदर्श होते हैं। यथार्थ में इन्हें कभी ग्रहण किया जा सकता है ।"[1] मूल्य वह है जिसका महत्व है । जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं जिसके लिये वे जीवित रहते हैं और जिसके लिए वे बडे से बडा त्याग कर सकते हैं।

साहित्य कोश में भी बहुत ही विस्तार से मूल्यों की चर्चा मिलती है। यहाँ वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों के महत्व को घोषित करते हुए कोशकारों ने सामाजिक मूल्य को श्रेष्ठता दी है। दिनकर ने आचरण को ध्यान में रख कर मूल्यों को देखा-परखा है। उनके अनुसार " मानव मूल्य आचरण के सिद्धांत है । समाज में प्रचलित नियमों और सिद्धांतों ने सभ्यता को जन्म दिया है । यह सभ्यता मूल्यों की रचना करती है । जिसका महत्व तब तक नहीं होता जब तक वे जीवन के अंग नहीं बन जाते- जो मूल्य वाणी की शोभा है, आचरणों के आधार नहीं वे अगर व्यर्थ मान लिया जाय तो उससे आश्चर्य ही क्या है।"[2]

---

[1]गिरिजा कुमार माथुर: लहर,सितम्बर अंक-60:पृ.83

[2]रामधारी सिंह दिनकर: साहित्य मुखी :पृ.6

मानव की संवेदनाओं को मूल्य से जोडना है । इस सन्दर्भ में डॉ.जगदीश गुप्त कहते हैं "बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे मूल्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती । मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठाहै ।उसके बिना मानवीय अस्तित्व निरर्थक है । उससे विभिन्न रूपों में मानव मूल्यों की कल्पना नहीं कर पाता ।"[1]

इस प्रकार मानव और उनके जीवन से जुडे हुए मूल्य और उसकी अवधारण के संबन्ध में हिन्दी के विख्यात साहित्यकारों ने अपना विचार प्रस्तुत किया है । उनमें मानव समाज का सर्वांगीण विकास यात्रा के लिये आवश्यक गुण विद्यमान है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं से हमें ज्ञात होता है कि 'मूल्य' अर्थशास्त्र, दर्शन शास्त्र, समाजशास्त्र जैसे विभिन्न क्षेत्रों से साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए । यहाँ मूल्य सम्पूर्ण जीवन से आबद्ध है । इससे पता चलता है कि व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार में इसका ही प्रभाव है । हमारे सामाजिक जीवन को सुन्दर एवं स्वच्छ बनाने वाले उन आचरणों को मूल्य के अंतर्गत रखा जा सकता है, जिनसे सम्पूर्ण समाज विकास के पथ पर अग्रसर है । वही सच्चे मानव मूल्य है । व्यक्ति और समाज के आधार

---

[1]डॉ.ज़गदीश गुप्त : नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ:पृ.15

है यह जीवन मूल्य । समय के अनुसार इसमें बदलाव एवं परिवर्द्धन तो आ सकते हैं लेकिन इसका लक्ष्य समाज कल्याण ही है ।

मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्यों के वर्गीकरण उसके स्वरूप के आधार पर है । उसके स्वरूप में जब अनेकता है तब उसके वर्गीकरण में भी अनैक्य होना स्वाभाविक है । समस्त संस्कृतियों की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ होती है । यह विशेषताएँ मूल्य को निरंतर नवीन रूप प्रदान करती है ।

मूल्यों की दो कोटियाँ है, स्थाई और अस्थाई । इसमें अस्थाई मूल्य युगीन महत्व के होते है अर्थात युगों के अनुरूप उसमें बदलाव आ सकते हैं । लेकिन स्थाई मूल्य हमेशा परिवर्तनहीन रहेगा । जीवन की ज़रूरतों को समझकर अर्बन ने मूल्यों को आठ वर्गों में बाँटा है – "शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, मनोरंजक मूल्य, सामाजिक मूल्य, चित्रात्मक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य, बौद्धिकमूल्य, धार्मिक और ईश्वरपरक मूल्य ।"[1]

हिन्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक देवराज मूल्यों के दो प्रकार मानते हैं – आंतरिक या साध्यात्मक तथा साधनात्मक । यह कहने की ज़रूरत नहीं

---

[1]अर्बन:फण्डमेंटल ऑफ एथिक्स: पृ.164

है कि विभिन्न सन्दर्भों में एक ही मूल्य साधनात्मक अथवा साध्यात्मक हो सकता है।

विषय की द्रष्टि से देखा जाय तो मूल्यों को पारिवारिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक, कलात्मक, दार्शनिक आदि रूपों में देखा जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ.हुकुम चन्द राजपाल का कथन है "भौतिक, मानसिक या मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक इन चार भागों में मूल्यों का वर्गीकरण करना है।"[1]

मूल्यों को वर्गीकृत करने में अनेक विद्वान लगे हुए हैं। उनमें से किसी एक को अपनाना समीचीन नहीं होगा। अतः मूल्यों को विकास की द्रष्टि से देखना है। इस तरह देखने में मूल्यों के मुख्यतः दो प्रकार माना जा सकता है - जैविक मूल्य और पारजैविक मूल्य। जैविक मूल्य शब्द से अर्थ समझ सकते हैं कि यह मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से संबन्धित है। दूसरा पारजैविक मूल्य, यह तो सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। कुल मिलाकर मूल्यों को वर्गीकृत करने केलिये इन दोनों पक्षों को विस्तार से देखना अनिवार्य है।

---

[1]डॉ.हुकुम चन्द राजपाल: आधुनिक काव्यों में जीवनमूल्य: पृ.70

जैविक मूल्य

इसका अर्थ शरीर से संबन्धित अनिवार्य तत्वों से है । जीव को अपने प्राण बनाए रखने के लिये जो आवश्यकताएँ होती है, उसके संबन्ध में यहाँ चर्चा होती है । मानव की प्राथमिक ज़रूरतें जैसे भूख, प्यास, काम आदि इसके अंतर्गत आते हैं । शरीर की रक्षा और उसकी तुष्टि का संबन्ध जैविक मूल्यों से है ।

मानव जीवन के साथजैविक मूल्यों में भी विकास आता है । पशु जीवन से भिन्न होकर जैविक मूल्य बुद्धि से मिलकर भावना की ओर अग्रसर होने लगे । यहाँ मानव जीवन का विकास आरंभ हुआ । इस तरह संस्कृति के विकास के साथ-साथ जैविक मूल्यों के प्रति मानव कीसजगता जागृत हुई ।

जैविक मूल्यों को व्यक्तिगत मूल्य भी कह सकते हैं । समाज में व्यक्ति की विशिष्ट रुचियों के कारण व्यक्तिगत मूल्यों की स्थापना हुई । रमेश कुंतल मेघ के अनुसार "व्यक्तिगत मूल्य इन्द्रिय-बोध, भावनात्मक विकास, जीवन संघर्ष का परिणाम है और प्रायः समाज विरोधी नहीं होते ।"[1] सामाजिक भावना से जैविक मूल्य संस्कृति के विकास के साथ-

[1]रमेशकुंतल मेघ: सौन्दर्य,मूल्य औरमूल्यांकन:पृ.46

साथ सामाजिक मूल्यों के रूप में बदलने लगे ।

पारजैविक मूल्य

जीवन मूल्यों के विकास में सामाजिक मूल्यों का स्थान दूसरा है । अपनी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ती के समय जैविक मूल्य साध्यात्मक होते हैं। उसके बाद मानव पारजैविक अपेक्षाओं की ओर आकर्षित होता है । ऐसे सन्दर्भ में पारजैविक या सामाजिक मूल्यों को श्रेयता मिलता है । यह मूल्य मानव के लक्ष्य को स्वच्छ एवं उच्चतर बनाते हैं । डॉ.विश्वंभरनाथ उपाध्याय का कथन है "मूल्य एक प्रकार का निर्णय होता है । प्रशंसापरक निर्णय, हमेशा सामाजिक होता है ।"[1]

मानव की सामाजिकता उसका मूल स्वरूप है । सामाजिक या पारजैविक मूल्यों का मतलब अपनी जाति, समाज, जनता और देश की रक्षा से संबन्धित उन मूल्यों से हैं जो परजन हिताय है । इन सामाजिक मूल्यों का लक्ष्य सामाजिक संरक्षण है । इस प्रकार सामाजिक मूल्यों का मकसद एक सुसंस्कृत, विकासोन्मुखी जीवन द्रष्टि को प्रदान करना है । इस संदर्भ में रवीन्द्रनाथ मुखर्जी का कथन ठीक लगता है –"सामाजिक मूल्य सामाजिक जीवन के रक्षाकवच होते हैं ।"[2]

---

[1]डॉ.विश्वंभरनाथ उपाध्याय: जलते उबलतेप्रश्न: पृ.24

[2]रवीन्द्रनाथ मुखर्जी: उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत : पृ.531

संक्षेप में कहा जाय तो इन वर्गीकरणों से स्पष्ट होते हैं कि मूल्य संबन्धी वर्गीकरणों में एकरूपता नहीं है, लेकिन मानव जीवन के साथ जोडकर देखा जाय तो व्यक्ति और समाज दोनों अन्योन्याश्रित है । इसके आधार पर मूल्यों को दो कोटिओं में बाँटा जा सकता है – व्यक्तिगत या जैविक और सामाजिक या पारजैविक। जीवन मूल्य मानव की व्यक्तिगत ज़रूरतों को केन्द्र में रखकर उत्पन्न हुआ है, लेकिन जीवन की वरीयता एवं ज़रूरतों को समझकर सामाजिक मूल्यों की संरचना हुई है । मूल्य वैयक्तिक या सामाजिक दो रूपों में मिलते हैं, तो भी उसका मूल उद्देश्य मानव जीवन को बाधाओं से मुक्त करना तथा मानवीयता को जगाकर समाज कल्याण के लिये एकत्रित करना है ।

मूल्य परिवर्तन : दशा और दिशा

मूल्य बदलाव के अनेक कारण है । समाज में प्रचलित नैतिक मूल्य तथा समाज के आंतरिक संघर्ष। इसके साथ औद्योगिक क्राँति और ज्ञान विज्ञान की प्रगति ने मूल्य परिवर्तन को गतिवेग प्रदान की है ।

मूल्य बदलाव के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण है औद्योगिक क्राँति जिसने यूरोपीय समाज में नवीन चेतना प्रदान की । इसके प्रभाव से सम्पूर्ण विश्व में तीव्रगामी परिवर्तन उत्पन्न हुआ । अब तक समाज और व्यक्ति के ऊपर धर्म की जो पकड थी, औद्योगिक क्राँति के

फलस्वरूप धर्म की प्रभुता कम होने लगी । मनुष्य पहले जिन धर्म ग्रन्थों में प्रणीत नियमों या आचार विधानों को अंतरात्मा की आधारभूमि मानता था वे धीरे-धीरे निरर्थक सिद्ध होने लगे ।

जगत परिवर्तन शील है अथवा परिवर्तन ही जगत का आधार है । ऐसे परिवर्तन मानव और उनकी संस्कृति, सभ्यता में नयी नयी भावनाओं को जोडने का कार्य करती है । उससे मानव जीवन के आधार जो मूल्य संबन्धी अवधारणा है उसमें भी बदलाव आना स्वाभाविक है । क्योंकि परिवर्तन ही निरंतरता का, विकास का लक्षण है, परिवर्तन हीनता जडता का लक्षण है । इस संदर्भ में डॉ. गोविन्द चन्द्र पाँडे का कथन है " जहाँ हम किसी वैचारिक संघर्ष से पृथक होने लगते हैं, एक ओर वैचारिक अवमूल्यन एवं परंपरागत स्थाई बोध के प्रति संशय होने लगता है तथा दूसरी ओर नये मूल्य बोध के प्रति सजगता जागृत होती है ।"[1]

भारत में औद्योगीकरण को द्वितीय पंचवर्षीय योजना के साथ प्रमुखता दी है । इस योजना में बडे उद्योगों के विकास तथा लघु-उद्योगों की स्थापना, उद्योगों के लिये आर्थिक सहायता जैसे कार्य थे । इस संदर्भ में पं.नेहरू कहते हैं "अब जो हमने दूसरी पंचवर्षीय योजना बनाई है, उसमें हमने कारखाने बनाने की तरफ ज़्यादा ध्यान दिया है । क्योंकि

---

[1]डॉ.गोविन्द चन्द्र पाण्डे: मूल्यमीमाँसा: पृ.261

अगर बडे कारखाने नहीं बनेगा तो हम देश की बेरोज़गारी को कम नहीं कर सकते, देश की गरीबी कुछ कम नहीं कर सकते । इस लिये हमें दोनों तरफ तरक्की करनी है । कारखाना बढाने है, ताकि बेकार लोगों को रोज़गार मिले और देश में बहुत साधन पैदा हो ।"[1]

इन योजनाओं के परिणाम स्वरूप व्यक्ति गाँन्धीवादी मूल्यों को छोडकर औद्योगीकरण की होड में भाग लेने लगे । जनता देश की मिट्टी को छोडकर पश्चिमी मशीनों की ओर आकृष्ट होने लगी । बौद्धिक आदर्शों की प्रणेता औद्योगीकरण ने मानव जीवन को नई द्रष्टि दी है । श्रम की महत्ता, राष्ट्रवादी चेतना जैसे मानव मूल्य धीरे-धीरे विलुप्त होने लगे । पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित आधुनिकता की ओर तीव्रगति से बदलते जीवन मूल्यों में भौतिकता की प्रधानता है । इससे भारतीय ग्रामीण एवं शहरीय जीवन मूल्यों में गहरा परिवर्तन दिखाई देता है।

आधुनिकीकरण के साथ जो वैज्ञानिक प्रगति हुई, उससे जीवन में बदलाव आना स्वाभाविक है । मानव जीवन में विज्ञान को प्रमुखता मिलने लगी अतः मानव की सोच एवं द्रष्टि भी वैज्ञानिक हुई । इस ने मानव जीवन से भावुकता को निकाल कर भौतिकता को प्रतिष्ठित किया । बौद्धिकता ने मानव जीवन में बदलाव ही नहीं समूल परिवर्तन कर डाला ।

---

[1]नेहरू के भाषण: 1956-58: पृ.9

मूल्य बदलाव के कारणों में द्वितीय विश्व महायुद्ध भी महत्वपूर्ण है। जापान में जो बम की दुर्घटना हुई उससे मानव की सोच में परिवर्तन आया । मृत्यु बोध और ईश्वर पर अविश्वास इसका परिणाम था । मृत्युबोध नैतिकता को ही नहीं संपूर्ण मानवता को भी विनाश की और ले जाता है । इससे शोषण, अराजकता,आर्थिक संकट जैसी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगी । परिणाम स्वरूप अस्तित्ववादी एवं क्षणवादी जीवन दर्शन व्याप्त होने लगे जिसने मानव को नये सिरे से सोचने के लिये बाध्य किया।

भौतिकता की प्रमुखता ने मानव को उपयोगवादी द्रष्टिकोण प्रदान किया है। विज्ञान प्रयोग की कसौटी पर आधारित है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ उसकी विध्वंसक शक्ति मानव को भयभीत करती है । फलस्वरूप उसे जीवन की क्षणिकता और अर्थहीनता का एहसास होने लगा। ऐसे सन्दर्भ में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों के अन्धकार से घिरा हुआ आज का मनुष्य मूल्य बदलाव के दौर से गुज़र रहा है। अतः सामयिक जीवन में नये मूल्यों का उदय होना स्वाभाविक है। आधुनिक युगीन मानव न प्रकृति से संघर्ष करता है और न मानवों से। वह मात्र अपने आप से संघर्ष करता है । इसलिए आधुनिक समाज में मानव के रिश्तों में भी घनिष्ठता का अभाव दृष्टव्य है । इस संत्रास में विद्या निवास मिश्र कहते हैं "आज का वास्तविक संकट यंत्र के

आविष्कार की तेज़ी का संकट नहीं, बल्कि मनुष्य के विवेक के पराभव का संकट है । मनुष्य जब यह नहीं सोचपाता कि नया क्यों और किसलिए बनाया जा रहा है, और इसके आविष्कार से मनुष्य का अपना कितना दूरगामी लगाव हो सकता है, तो उसके सामने यंत्र न साधन रह कर साध्य बन जाता है और यंत्र के साध्य होते ही मनुष्य 'स्व' से एक दमकटने लगता है । धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है कि आदमी यंत्र जगत को ही अपना 'स्व' मानने लगता है।"[1]

आधुनिक मानव अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित होकर 'स्व' को पहचानने लगा । इस दर्शन ने जनता को एक वेदना का भाव प्रदान किया । इस दर्शन से प्रभावित होकर मानव समाज परम्परा से दूर रहकर पूर्व निर्धारित निषेधों के प्रति आकृष्ट होने लगा । आज के जीवन में असंतुष्ट आत्मकेन्द्रित व्यक्ति नैतिक नियंत्रणों को चुभन मानते हैं और निरंतर पाप को आनन्द का लक्ष्य मानकर नैतिक मूल्यों की अवहेलना करते हैं । अस्तित्ववादियों के अनुसार सारे जीवन मूल्य त्याज्य है ।

मूल्यों के आधार पर व्यक्ति की मानसिकता रूपायित होती है । जब व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ सामाजिक मूल्यों से संघर्ष करती हैं तब सामाजिक अलगाव की स्थिति पैदा होती है । ऐसी स्थिति में पुराने

---

[1]विद्यानिवास मिश्र : परम्परा बन्धन नहीं: पृ.65

मूल्यों में बदलाव तथा व्यक्ति की मानसिकता को प्रामाणिकता मिलती है।

मूल्य परिवर्तनों के कारणों में राजनीति का भी अपना महत्व है। सत्ताकी इच्छा से संघर्ष उत्पन्न होता है । इससे विभिन्न देशों को आक्रमण के द्वारा अपना अधीन बना दिये जाते हैं। विदेशों का प्रभाव हमारी संस्कृति में भी ज़रूर पडा है। अंग्रेज़ी शासन के साथ-सथ वही सभ्यता, भाषा, शिक्षा आदि ने भारतीय जनता को प्रभावित किया। धर्म, जाति, राज्य आदि संकीर्ण भारत में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र भक्ति जैसे मूल्यों का उदय हुआ है तो उसके पीछे अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव था। यह नयी चेतना नव जागरण का फल है जिसने भारतीय जडता में नवोन्मेष भरा है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के स्वार्थ ने देश की प्रगति को विनष्ट किया है। स्वतंत्रता संग्राम में कन्धे से कन्धे मिलाकर लडने वाला वर्ग सत्ता मिलते ही पथ भ्रष्ट होने लगे। "इससे राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ तक प्रत्येक दल के अंतर सत्ता या अधिकार पाने के लिये व्यक्ति केन्द्रित दलबन्दियाँ शुरू हुई, जिससे उनकी ईमान्दारी से लोगों का विश्वास उड गया।"[1]

---

[1]डॉ.शिवदान सिंह चौहान: आलोचना ,जुन-1965:पृ.5

आज प्रतिस्पर्धा का युग है । अपने को ऊँचा स्थापित करने के लिए आदमी प्रत्येक मूल्य का अतिक्रमण करने को तैयार हुआ । अपने सुख केलिए कुछ भी करने में आज का मानव हिचकते नहीं । प्रतिस्पर्धा की होड में दूसरों की हत्या करने में भी उसे कोई ऐतराज़ नहीं । इस तरह वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा सामाजिक मूल्यों में बिखराव डालने का प्रमुख कारण है ।

युगीन परिस्थितियों एवं विचार धाराओं से मानव जीवन ओतप्रोत है । अतएव जीवन मूल्य का भी इससे प्रभावित होना ज़रूरी है । मूल्यों में स्थाई मूल्य हमेशा परिवर्तन से दूर रहते है तो नश्वर मूल्य हमेशा परिवर्तित एवं परिवर्धित हो जाते हैं । अपने समय एवं समाज की आवश्यकता के अनुकूल आधुनिक युग के सामाजिक राजनैतिक वातावरणों से मानव की जीवन द्रष्टि जुडी रहती है । मानव जीवन के विकास के अनुसार जीवन के आधार रूपी मूल्यों में बदलाव आते है । लेकिन उसे समाज के अनुरूप देखना वाँछित है । वैयक्तिक हितों की रक्षा हेतु मूल्यों को अपने अनुकूल बनाने की अस्तित्ववादी द्रष्टि हमेशा ह्रासोन्मुख है । उससे दूर रहकर उन्नति एवं मंगल की द्रष्टि से मूल्यों के बदलाव को स्वीकार करना मानव केलिए उचित है ।

परिवार :अर्थ और परिभाषा

परिवार समाज की आधारभूत इकाई है । सामाजिक संरचना में परिवार का स्थान शीर्षस्थ है । प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में परिवार का महत्व होता है । समाज को बनाए रखने में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण है । व्यक्ति के विकास में परिवार की अहम भूमिका है । मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी संस्था है । संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्नत हो या अवन्नत किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है ।

परिवार को अनेक समाज वैज्ञानिकों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है । उसमें मैकाइवर एवं पेज ने परिवार के संबन्ध में कहा है " परिवार स्थाई यौन संबन्धों पर आधारित एक ऐसा सुनिश्चित एवं छोटा समूह है जिसमें संतानोत्पत्ति के अवसर के साथ उनके पालन-पोषण की व्यवस्था भी रहती है।"[1] इस परिभाषा में परिवार के आधारभूत तीन तत्व मौजूद है-यौन संबन्ध, संतानोत्पत्ति, पालन-पोषण आदि ।

बच्चे के विकास में परिवार का ही महत्व है । उनकी भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ मानसिक विकास में भी परिवार का ही

---

[1]मैकाइवर एवं पेज़"सोसाइटी: पृ.238

योग है। अपने घर से आचार व्यवहार के तरीके सीखते हैं। इस संदर्भ में डॉ.मिश्रा का कथन ठीक लगता है "परिवार से संपर्क के कारण ही बालक शब्दों का उच्चारण करना सीखता है, अन्य व्यक्तियों के प्रति सामाजिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करता है।"[1]

अन्य सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा परिवार में ऐसे कई गुण विद्यमान है जो समाज के संपूर्ण विकास में सहायक हो। अतः समाज का विकास और विस्तार परिवार के विकास और विस्तार पर निर्भर है। दोनों अन्योन्याश्रित है। परिवार के बिना समाज की निरंतरता असंभव है, क्योंकि समाज की रिक्तता को पूर्ण करना परिवार का दायित्व है।

परिवार मानव जाति के आत्मसंरक्षण, वंश-वर्धन और जातीय जीवन के सांगत्य को बनाए रखने में प्रमुख साधन है। सामाजिक हैसियत को बनाये रखने में परिवार का स्थान ऊँचा है-" मनुष्य मरणधर्मा है, परंतु मानवजाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होता है, बचपन, यौवन और वृद्धावस्था को भोगकर समाप्त हो जाता है, पर वंशपरंपरा द्वारा उनका संतान क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमरत्व दो विरोधी वस्तुएँ हैं। किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाए, पर परिवार और विवाह

---

[1]डॉ.के .के. मिश्रा: भारतीय सामाजिक संस्थाएँ : पृ.159

द्वारा मानव जाति अमर हो जाता है ।"[1]परिवार का महत्व यहाँ है कि एक ओर वहाँ थकी हुई पीढी आश्रय पाती है तो वहीं वह नयी पीढी का निर्माता भी है । अतः परिवार को मानव व्यक्तित्व की बीजभूमि माना जा सकता है ।

सामाजिक मूल्यों की स्थापना और उसके पालन में परिवार काही हाथ है। सामाजिक प्रशिक्षण एवं नियंत्रण के उपकरण के रूप में भी परिवार को स्वीकार किया जा सकता है - "परिवार विधि-विधान सम्मत स्वरूप या सामाजिक संस्था मात्र नहीं है, उससे कहीं अधिक वह एक ऐसी भावनात्मक इकाई है जिसमें भविष्य का स्वरूप निर्धारित होते हैं एक ओर तो परिवार परंपरा के माध्यम से अतीत से जुडा होता है तो दूसरी ओर वह सामाजिक दायित्व और सामाजिक न्याय के रूप में भविष्य से बंधा होता है ।"[2]

उपर्योक्त परिभाषाओं एवं विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार की परिभाषा के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद है, किंतु सभी परिभाषाओं से यों प्रतीत होता है कि परिवार को सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर समाज की अन्य संस्थाओं से अलग किया जा सकता है । पारिवारिक समूह में पति-पत्नी और बच्चों के

---

[1]किम बाल यंग: सोशियोलॉजि : पृ. 313

[2]एल्मेर:दि सोशियोलॉजि ऑफ दि फैमिलि: पृ.59

अतिरिक्त कुछ लोग भी होते हैं जो निकट रक्त संबन्धी हो इन सबके आवास स्थान को हम परिवार कहते हैं जो समाज की मूल इकाई है।

परिवार की प्रमुख विशेषताएँ

संपूर्ण विश्व में परिवार का अपना महत्व है। सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में भी उसका योग शीर्षस्थ है। विश्व भर में परिवार के सामाजिक संगठन में भिन्नता तो पाई जाती है। लेकिन विभिन्नता के तहत आंतरिक तौर पर कुछ खासियत समान रूप से द्रष्टिगोचर है।

सार्वभौमिकता

समाज की अन्य संगठनों की अपेक्षा परिवार सर्वाधिक सार्वभौमिक संगठन है। यह अत्यंत प्राचीन इकाई है। आदिम युग से लेकर आज भी कोई समाज परिवार विहीन नहीं रहा है। उसका कारण यह है कि मानव को जन्म से लेकर मरण तक पारिवारिक व्यवस्था की सदस्यता भोगनी पडती है। परिवार का स्वरूप तो परिवर्तित होता है, परंतु उसका अस्तित्व सदैव बने रहेगा। परिवार की सार्वभौमिकता के सन्दर्भ में एण्डेर्सेन का कथन है "परिवार का एक रूप वह है जिसमें हम जन्म लेते हैं और दूसरा रूप वह है जिसमें हम बच्चों को जन्म देते हैं। परिवार की सार्वभौमिकता इसी तथ्य से स्पष्ट है कि हम में ऐसा कोई

भी व्यक्ति नहीं है जो परिवार के इन दोनों रूपों में किसी का भी सदस्य न हो।"[1]

भावनात्मक आधार

परिवार हमेशा भावनात्मक संबन्धों पर आधारित है। पति-पत्नी के बीच मधुर प्रेम-भावना, माँ-बाप की वात्सल्य-भावना एवं त्याग भावना आदि परिवार की आधारशिला है। आपसी प्रेम, श्रद्धा, वात्सल्य आदि भावनाओं के साथ व्यक्ति को जोडने में भी परिवार का ही हाथ है। इतना भी नहीं परिवार को बनाए रखने में इन भावनाओं का स्थान महत्वपूर्ण है।

रचनात्मक प्रभाव

परिवार को सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला मानने का कारण इसका रचनात्मक प्रभाव है। परिवार भी बच्चों में सर्वप्रथम मानवोचित गुणों का विकास करता है। व्यक्ति परिवार में रहकर भी अनुशीलन, आज्ञापालन, भ्रातृत्व आदि आदर्शों को सीखता है। बच्चों का सामाजीकरण परिवार से आरंभ होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस बात को स्पष्ट करते हैं कि बच्चों के चरित्र चित्रण में परिवार की ही भूमिका है।

---

[1]एन्देर्सेन:सोसाइटि इट्स ओर्गनैसेशन एंड ओपेरेशन: पृ.160

सीमित आकार

परिवारवालों की संख्या अत्यंत सीमित होती है जिसमें प्रयः माता-पिता उनके बच्चे तथा रक्त संबन्धी शामिल होते हैं कहीं-कहीं गोद लिये बच्चे भी परिवार के अंतर्गत आते हैं । लेकिन आज कल वैज्ञानिक युग में परिवार का आकार और भी अधिक सीमित होने लगा है ।

सामाजिक संरचना की केंद्रीय स्थिति

सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई होने के कारण परिवार सामाजिक संरचना के केंद्र में है । सारे समाज पारिवारिक इकाइयों से ही बनता है । मनुष्य के अनेक कर्म परिवार के लिये होते हैं । देखा जाता है कि लोग अपने आराम से अधिक अपने स्त्री-बच्चे और परिवार के अन्य सदस्यों के सुख और आराम के लिये परिश्रम करते हैं । अतः परिवार भी मनुष्य की अधिकांश क्रियाओं का केन्द्र है ।

सामाजिक नियमन

समाज में शाँति व्यवस्था, अनुशीलन बनाए रखने के लिये सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है । परिवार सामाजिक नियंत्रण की सामग्री के रूप में आता है । अतः परिवार से चले आ रहे आचरणों को आसानी से तोडना असंभव है ।

परिवार की स्थाई प्रकृति

परिवार एक स्थाई संस्था है। पति-पत्नी विवाह के बाद परिवार की संरचना करते हैं। इनकी मृत्यु होने से इनके बच्चे ही परिवार को आगे ले जाते हैं। पुरानी पीढियों के मरने पर नये सदस्यों के जन्म लेने से परिवार में निरंतरता आती है।

संक्षेप में कहा जाय तो समाज में परिवार की भूमिका अनोखी है। अपने विशाल प्रभाव से वह समाज के संपूर्ण विकास में भागीदार होते हैं। सुव्यवस्थित समाज के लिये स्वच्छ परिवार की नीव डालना ज़रूरी है। अतः समाज की मूल इकाई, परिवार का महत्व हमेशा रहेगा।

परिवार के प्रकार

विश्व भर के संपूर्ण परिवारों को विकास की द्रष्टि से देखा जाय तो विविधता दृष्टव्य है। उसे अपनी विविधता के आधार पर विभाजित करना अध्ययन के लिये अनिवार्य है।

विवाह के आधार पर

विवाह संबन्धी परिवार के अंतर्गत पति-पत्नी और उनके अविवाहित सन्तान आते हैं। उनके भी मुख्यतः दो भेद मिलते हैं। जब एक पुरुष द्वारा एक ही स्त्री से शादी करके उसके साथ गृहस्थी संभालते हैं तो ऐसे परिवार को एक विवाही परिवार कहा जा सकता है। यहाँ

एक जीवन साथी होते हुए दूसरे विवाह की समस्या नहीं होती है । वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ऐसे परिवारों को मान्यता प्राप्त है।

विवाह के आधार पर परिवार के दूसरा प्रकार है बहु विवाही परिवार । जब एक पुरुष या स्त्री एक से अधिक स्त्री -पुरुष से विवाह करते हैं तो ऐसे परिवार को बहु विवाही परिवार कहा जा सकता है । स्त्री-पुरुष के आधार पर इसके भी विभाजन बहु पत्नी परिवार, बहु पति परिवार के रूप में किया जा सकते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधार पर

परिवार में मौजूद सदस्यों के आधार पर परिवार को विभाजित किया जा सकता है । इसके मुख्यतः दो रूप मिलते हैं-संयुक्त परिवार और अणु परिवार।

संयुक्त परिवार का आकार विस्तृत है । ऐसे परिवारों में कई मूल परिवार एक ही साथ रहते हैं और उसमें निकट नाता भी होना ज़रूरी है तथा वह एक ही आर्जित इकाई के रूप में कार्य करते हैं। संयुक्त परिवार में सबसे बूढे व्यक्ति परिवार के मुखिया होते हैं जिनकी हुकुम करने लायक है । पुराने ज़माने में भारत में ऐसे परिवारों की प्रबलता थी, लेकिन मौजूदे व्यवस्था में इसकी ज़्यादा महत्व नहीं है।

औद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण व्यक्ति महानगरों में आकर बसने लगे। इसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार का ढाँचा बदल गया। उसके स्थान पति-पत्नी और बच्चे तक सीमित रखा गया। ऐसे परिवारों को अणुपरिवार कहा जाता है। मौजूदा समाज में अणु परिवार को ही आदर्श के रूप में माना जाता है।

निष्कर्ष

परिवार उसके आकार, सदस्यों की संख्या जैसी द्रष्टि से विभाजित किया जा सकता है। बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अणुपरिवारों को आदर्श परिवार के रूप में समाज में स्वीकृति मिली है। इसके साथ साथ मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक नज़रिये से परिवर को देखा जा सकता है।

संपूर्ण विश्व में मात्र भारत एक ऐसा देश है, जहाँ वैयक्तिक संबन्ध पारिवारिक रिश्तों में सुरक्षित है। इस प्रकार रिश्तों के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था आगे चलती है। अतः परिवार और समाज दोनों परस्पर आबद्ध है। समाज में उपजे सारे परिवर्तनों का परिवार में भी प्रभाव डालना स्वाभाविक है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय महानगरों में औद्योगीकरण के फलस्वरूप विद्रूपताएँ पनप रही है। महानगरीय जीवन चक्र में उलझे व्यक्ति शादी

नहीं कर पाते । वे औरतों को वैसे ही घर में रख लेते हैं । इसलिए उनमें विवाह की परंपरागत धारणाएँ लुप्त हो गयी है । इस प्रकार विवाह के नाम पर आज भारतीय नवयुवक विवाह, परिवार जैसी संस्थाओं को नकारने लगे । इतनी पतनीय दशा में हमें परिवार और वैयक्तिक संबन्धों को पैनी द्रष्टि से देखना अनिवार्य है । क्योंकि व्यक्ति के संपूर्ण विजय और विकास के पीछे परिवार और उसके सदस्यों का ही योगदान है। यह भारतीय विचार है । इस संदर्भ में परिवार अध्ययन के लिए विशाल सामग्री प्रदान करते हैं । जो भी हो परिवार की संरचना व्यक्ति के विकास तथा राष्ट्र की सुरक्षा के उपलक्ष्य में हुआ है, अतः महत्वपूर्ण है ।

दूसरा अध्याय
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में पारिवारिक जीवन एवं पीढी संघर्ष

हिन्दी नाटकों में पारिवारिक जीवन एवं पीढी संघर्ष

भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है पारिवारिक अवधारणा। सामाजिक संगठन को बनाये रखने में परिवार की भूमिका बडिया है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में बदलते हुए पारिवारिक जीवन का रेखांकन हुआ है । पति-पत्नी के बीच उपजे नये संबन्धों का अंकन करके बदलते दाम्पत्य जीवन की विभिन्न झाँकियों को प्रस्तुत करके नाटक मानव जीवन से अपना गहरा संबन्ध जोडते है।

आज़ादोत्तर भारतीय समाज को कई सामाजिक समस्याओं से जंग बोलना था । उनमें पीढी दरपीढी की अपनी अहं भूमिका है । समसामयिक मूल्यशून्य समाज में अग्रज और अनुज पीढी का ऐसा विच्छेद उपस्थित हुआ है, जिससे संपूर्ण पारिवारिक जीवन उबलने रहा है । संपर्क हीनता से दोनों में जल्दी संवादहीनता उत्पन्न हुई जिससे संघर्ष का रास्ता भी खुल गया। पारिवारिक जीवन के संघर्ष को और भी बढाने में इसका अहं हाथ है। संयुक्त परिवार की टूटन में यही संघर्ष है- “पीढियों का संघर्ष केवल व्यक्तियों का संकर्ष नहीं मान्यताओं, मूल्यों का संघर्ष भी है। पुरानी पीढी यथार्थ को, नई पीढी आदर्श को, पुरानी पीढी ने नैतिकता और नई पीढी ने आकांक्षा को लेकर अपने-अपने लिए

जो बंध घेरे बना लिया है उससे वे एक दूसरे के लिए इतने सन्दर्भ हीन, निरर्थक हो जाते है कि वे एक दूसरे को समझ नहीं पाते ।"[1]

माता -पिता जब अपनी जवान संतानों के साथ मतभेद में पडते है तो वे यह भूल जाते है कि जवानी और बुढापे की सोच में अंतर होता है । जो निश्चय ही विस्फोटात्मक भी हो सकता है । अपने अनुभवों की सोच को नई पीढी समझने केलिए तैयार नहीं है । अतःमाता पिता या पुराने लोग अकेले में पड जाते है । "वस्तुतः संतानों की महत्वाकाँक्षा के कारण परिवार का पुराना ढाँचा टूट रहा है।उसमें दूरियाँ बढती जा रही है । माता-पिता और संतानों के बीच हर घर में खाईबनती रही है । जहाँ-जहाँ नई हवा का प्रवेश हो रहा है ।"[2]

आधुनिकता और विदेशी विचारधाराओं के प्रभाव ने स्त्री-पुरुष संबन्धों में नवीनता डाली तथा पीढी दर पीढी के बीच के दरार को बढा दिया । "नई पीढी तथा पुरानी पीढी के वैचारिक विभेदों के रूप में पुराने मूल्यों का विघटन और उसकी जगह नये मूल्यों को स्थापित होने का छटपटाहट जीवन के हर चौराहे पर द्रष्टीगत हो रही है । पुरानी मान्यताऐं मिट रही हैऔर नई मान्यताऐं अभी स्थापित हो नहीं पाई है ।"[3]

---

[1]विषणु प्रभाकर :टूट्ते परिवेश, पृ-14

[2],वहीं पृ:16

[3],कमलेश्वर :नयी कहानी की भूमिका,पृ-96

आज के माहौल में नवीन सभ्यता का उदय हुआ है । जीवन मूल्योंसे विहीन ऐसी अपसंस्कृति युवापीढी को पथपृष्ट करती है । इसप्रकार की टूटन पारिवारिक विघटन तथा व्यक्ति के अकेलेपन एवं दिशाहीनता का भी कारण है । समाज की सबसे ज्वलंत विकृति एवं पारिवारिक जीवन के चैन को आग लगानेवाले पीढी संघर्ष को नाट्य साहित्य ने अपने कलेवर में समेटने का प्रयास किया है ।

विष्णु प्रभाकर

स्वातंत्र्योत्तर मूल्यशून्य भारतीय सामाजिक परिवेश के संप्रेक्षण में नाटककार विष्णु प्रभाकर ने कामयाबी प्राप्त की है । नाशोन्मुख मानव जीवन की त्रासदी का अंकन करते हुए युगीन सन्दर्भों सें अपना नाता जोडते है । महायुद्धोत्तर आस्थाहीन जीवन तथा आज़ादोत्तर मोहभंग का जीवन दोनों एक साथ समेटने में विष्णु प्रभाकर सफल हो पाये । अपने युगीन संकट को रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए कहते है - " जीवन में मूल्य सतत बदलते है । तो कभी तेजी से । उन्हें बदलते रहना चाहिए । ये स्वच्छ हवा की बेचारे है । आज विज्ञान और तकनीक के कारण तेजी से सब कुछ बदला रहा है । साहित्यकार महाकाल के स्वामी होने से बदलते मूल्यों की भविष्यवाणी करता है । यदि मूल्य न बदलते है

तो साहित्य स्थिर हो जायेगा । साहित्य तो नये मूल्यों की स्थापना भी करता है ।"[1]

नाटककार पारिवारिक जीवन में जन्मी नई मूल्य परिकल्पना को उपस्थित करके मूल्य बदलाव की स्थापना करते है । युगीन परिवेश में विवाह संबन्धी परंपरागत अवधारणा में परिवर्तन आये । इस समय नई मान्यताओं की स्थापना करते हुए लेखक समय के साथ संवाद करते है - " चरित्रों के माध्यम से मैंने यही दिखाने की कोशिश की है कि जब तक नारी इस बात को स्वीकार नहीं कर लेंगी कि विवाहित जीवन उसके लिए बहुत आवश्यक नहीं है और वह पुरुष के सहारे के बिना भी जी सकती है ।"[2]

पारिवारिक विघटन में बुर्जुआ पीढी तथा नई पीढी के बीच जन्मे संघर्ष की स्थापना उनके नाटकों का मुख्य विषय है । नई परंपरा के प्रस्थापन करने वाले युवा वर्ग पुरानी पीढी को अपनी विकास यात्रा में अवरोध मानकर जंग करते है । रूढियों और परंपराओं को ध्वंस करने वाली नई पीढी जीवन के संदर्भ में नये मूल्यों की प्रतिस्थापना करते है । इसलिए इनके बीच दरारें आ पडी, संघर्ष निरंतर चलते रहे ।जो पारिवारिक जीवन की स्वच्छता को मिटाते है । हर घर में बच्चे तथा माँ-

---

[1],विष्णु प्रभाकर :मेरे साक्षात्कार , पृ- 124

[2], सं, डॉ महीब सिंह : विष्णु प्रभाकर व्यक्ति और साहित्य , पृ- 80

बाँप के बीच खाईयाँ बढती जारही है । पुरानी बुर्जुआ नसीहत को अनदेखा करने से पारिवारिक जीवन त्रासद हो जाते है । “मूल्य इतनी तेजी से बदल रहे हो तो पैर उखड ही जाते है । पुरानी पीढी ने छद्म ओढा तो नई ने आक्रमण और ध्वंस की मुद्रा अपना ली । कुछ सेक्स से आतंकित होकर हर क्षण नारी के नंगे शरीर में दांत गडाने को पागल रहते है तो नारी के लिए नर सार्वजनिक हो गया है, अर्थात सेक्स निजी नहीं रहा । कुछ है जो पिता के बुतों को तोडने में लगे ।”[1]

टूटते परिवेश

टूटते परिवेश में आधुनिक पारिवारिक जीवन के संघर्ष को वाणी दी गयी है । बदलते हुए पारिवारिक वातावरण में पिता विश्वजीत अपने आप को निर्वासित महसूस करता है । वह संयुक्त परिवार के समर्थक एवं पुराने मूल्यो के प्रवक्ता है । अतः आधुनिक जीवन को वह निरर्थक मानते है । “एक वह हमारा जमाना था, कितना प्यारा, कितना मेल । एक कमाता, दस खाते । हरेक दूसरे से जुडे रहने की कोशिश करता था।और अब सब कुछ फट रहा है । सब एक दूसरे से भागते है ।”[2] उनके बच्चे मनीषा, विमल, इन्दु, दीप्ति और विवेक उसे अकेले छोड देता है । स्वयं

---

[1], सं, डॉ महीब सिंह : विष्णु प्रभाकर व्यक्ति और साहित्य , पृ- 80

[2], विष्णु प्रभाकरः टूटते परिवेश , पृ-15

निर्वासित होने का दुख झेलनेवाले आधुनिक मानव के प्रतिनिधि है विश्वजीत।

विश्वजीत अपने जीवनानुभवों से समस्याओं को समझते है। यही उनकी त्रासदी के मूल कारण भी है। जीवन दर्शन से हीन नई जिन्दगी से वे अनमेल होजाते है । ऐसे सन्दर्भों में संतानों से मतभेद होना स्वाभाविक है। पापा की मानसिकता को अवरोध मान कर दीप्ति उसपर आक्रोश करती हैं- " पापा, तब लोग न तो चाँद पर पहूँचे थे, न टेरिलिन पहनती थे । चुइंगम भी उस जमाने में कहाँ होगा ? यह न्यूक्लियर टेक्नोलजी की ऐज़ है,पापा । कंप्यूटर मनुष्य से अधिक कुशलता से काम करता है।"[1] विदेशी सभ्यता से प्रभावित होने से व्यक्ति की स्वतंत्रता की चाह पीढी दर पीढी के मध्य की प्रतिस्पर्धा का मुख्यकारण है।

शिक्षितआत्मनिर्भर नारी जब वैवाहिक संबन्धों पर प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध सोचने लगी तो तब संघर्ष उत्पन्न होता है। आज के युवा लोग अपने मन चाहे व्यक्ति के साथ जुडे रहने में तैयार है। सिर्फ अपने मौज के लिए घर छोडने में वह हिचकते नहीं । " मैं जा रही हूँ, वहीं, जहाँ मैं चाहती हूँ, आप चाहे तो उसे पाप कह सकते है, विद्रोह भी कह सकते है । भाषा का दुरुपयोग होने से कौन किसको रोक सकता है ।

---

[1], विष्णु प्रभाकरः टूटते परिवेश , पृ-28

लेकिन मैं तो इसे अधिकार कहती है । अपने भाग्य अपने आप निर्णय लेने का अधिकार । मैं इस अधिकार के लिए घर छोड कर जा रही हूँ ।"[1] आत्मनिर्भर नारी आज अपने घर छोडने के लिए उध्यत है । इससे पारिवारिक रिश्ते टूट जाते हैं। उच्चशिक्षा प्राप्त होने से दूसरों के द्वारा थोपे गये जीवन को ढोने के लिए वह तैयार नहीं है । नई पीढी के वर्जनशीलता एवं अतिरिक्त स्वतंत्रता की चाह इस द्वंद्व का मूल कारण है । परिवर्तन के दौर हम नये संबन्धों की खोज तो करते है लेकिन यह खद्योग की तरह भ्रामक नहीं होना चाहिए ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पारिवारिक संघर्ष को सच्चाई के साथ रंगमंच पर लाकर नाटककार ने पारिवारिक टूटन, व्यक्ति की स्वतंत्रता की चाह, पीढी दर पीढी की टकराहट और आधुनिक पारिवारिक जीवन में एकाकी होने वाले व्यक्ति की करुण त्रासदी को अभिव्यक्त किया है । इसका उद्धेश्य परिवर्तित पारिवारिक जीवन को रेखांकित करना तथा अपने ही घर में छोटे- छोटे द्वीपों में निर्वासित होनेवाले मानव के अवसाद को रूपायित करना है । इस सन्दर्भ में डॉ. दशरथ ओझा का कथन है - " इस प्रकार नये युग के टूटते हुए परिवेश की मर्मांतक कहानी

---

[1],विष्णु प्रभाकरः टूटते परिवेश , पृ-11

इस नाटक की सबसे बडी शक्ति है । ऐसा गंभीर चिन्तन युक्त दूसरा नाटक इस विषय पर देखने में नहीं आया ।"[1]

मोहन राकेश

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक के परिवर्तन एवं परिवर्धन में मोहन राकेश की अहं पहचान है । हिन्दी नाट्य जगत को आधुनिक जीवन के धरातल से संबद्ध करने में उनका ही नाम अग्रिम है । भोगे हुए जीवन से संजोयी हुई प्रेरणा को लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति देकर उन्हें और प्रज्वलित करना उनका महत्व है । समसामयिक राजनैतिक, सामाजिक समस्याओं का चित्रण राकेश के साहित्य में उपलब्ध है जो उसकी खूबी है । "राकेश जी ने युग की राजनीतिक,सामाजिक पृष्ठभूमि मेंजनसाधारण की स्थिति को गहराई से देखा-परखा ही नहीं उसे गहराई से झेला भी ।वे स्वयं मध्यवर्गीय विसंगतियों के मुक्त भोगी कलाकार थे । अतःयुगीन चेतना अपने समग्र प्रभाव के साथ राकेश की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई ।"[2]

आज़ादोत्तर परिवेश में भारतीय पारिवारिक जीवन में उपजे बदलाव या परिवर्तन राकेश की रचनाओं का केन्द्रीय विषय रहा था । भारतीय समाज में नये युग के साथ नई समस्याओं काभी प्रादुर्भाव हुआ, व्यक्ति की सारे समस्याऐं जैसे अकेलापन, कुण्ठा, तनाव, संबन्धहीनता,

---

[1], डॉ. दशरथ ओझा:आज का हिन्दी नाटक :प्रगति और प्रभाव , पृ-73

[2]डॉ. रमेशकुमार माधव :मोहन राकेश:व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ-29

पारिवारिक संघर्ष एतत विषयों को राकेश के साहित्य में संवेदना के साथ अनावरत किया गया । राकेश मानव की इस घुटन की पारखी थे । उन्होंने बिखरे हुए मानव जीवन की त्रासदी को प्रस्तुत करके नाट्य साहित्य को यथार्थ के साथ जोडने का कार्य किया - "आज के बदलते समाज में संबन्धों की जटिलता, पुराने संबन्धों का टूटन, अनाम संबन्धों का स्थापित होना, समाज के बीच रहकर भी अपने को अलग और एकाकी अनुभव करना, संबन्धों की अर्थहीनता का एहसास होने पर भी नकली चेहरा धारण करके उसको निभाने का नाटक करना आदि-उसमें प्रतिबिंबित होती है । मनुष्य के अस्तित्व पर, अतिशय यांत्रिकता के नाते, जो संकट आ गया है उसे वह उसकी नियती मानते हैं ।"[1]

अस्तित्ववादी दर्शन से अनुप्राणित कलाकार राकेश ने अपनी नाट्य कलाओं के ज़रिए वर्तमान की तमाम विभीषिकाओं को सच्चाई के साथ रूपाइत किया है । द्वितीय महासमरोत्तर मानसिकता के संपेषण में सजग कलाकार राकेश ने हमेशा विजय हासिल की है । ऐसी हालत में आम आदमी के जीवन की सारी विद्रूपताओं को नज़रअन्दाज़ करके रचना करने के लिए राकेश तैयार नहीं थे । राकेश की रचनाओं में अस्तित्ववादी प्रभाव तो है लेकिन उसमें भारतीय दर्शन काभी योग है । उसकी जडें तो

---

[1],डॉ.रामचन्द्र तिवारी:आधुनिकता और मोहन राकेश ,पृ-6

भारतीय है । इस सन्दर्भ में गोविन्द चातक कहते है - "मोहन राकेश ने पूर्व और पश्चिम के उसी सेतु पर अपने लेखन को टिकाया है और विश्वजनीयता की तलाश के बीच ही उसे सच्ची निजता दे पाया है ।"[1]

मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक जीवन का चित्रण मुख्यतः उपस्थित हैं । राकेश ने खुद लिखा है - "मेरे समय और परिवेश व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश है । मैं इनमें से किसी एक से हटकर शेष से जुडा नहीं रह सकता । अपने पास के संन्दर्भों से आँख हटाकर दूर के संन्दर्भों में रह कर उनके अन्दर से अपने समय और परिवेश को झाँकने की द्रष्टि है जो हर बार हर नये प्रयोग में यथार्थ को उसकी सजीवता में व्यक्त करने की एक नई कोशिश करती है ।"[2]अणु परिवारों का प्रादुर्भाव तथा एकाकी होनेवाले व्यक्ति की मानसिक समस्या राकेश के मुख्य विषय रहा है । उसके अन्तर्द्वंद्व को लेखक ने बडी सजगता से प्रस्तुत किया। राकेश की रचना के संन्दर्भ में अनीता राकेश कहती है - "उनके संपूर्ण साहित्य लेखन में भले ही वो कहानी,उपन्यास या नाटक ही क्यों न हो वो सिर्फ स्त्री-पुरुष के रिश्तों समझते रहे ।"[3]

---

[1],डॉ.गोविन्द चातक :आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा मोहन राकेश,पृ-22

[2],मोहन राकेश:परिवेश,पृ-203

[3],अनीता राकेश :गुरुकुल,पृ-66

राकेश विवाह को नयी द्रष्टि से देखते हैं । उसमें वही चिरंतन भारतीय भावना नहीं है। उनके अनुसार विवाह एक समझौता है जो कभी भी टूट सकता है । विवाह के संन्दर्भ में वे कहते है - "विवाह नाम है, समझौते का, एडज़ेस्टमेंट का, पर अगर दोनों और से हो तब न ? अगर दोनों ही अपने अपने ढंग से जीना चाहता हो,दोनों ही अपनी कामना पूर्ती केलिए एक दूसरे से कुछ चाहते हों-कुछ ऐसा जो दोनों के पास दे सकने केलिए नहीं है तो ?"[1]

वर्तमान समय में दाम्पत्य जीवन की संबन्धहीनता तथा पारिवारिक जीवन की अस्थिरता ने मानव जीवन को जितना संत्रस्त बनाया है, राकेश की नाट्य साधना उसकी दस्तावेज कहा जा सकता है । नाटकों में बखूबी ढंग से पारिवारिक त्रासदी को उकेरा है । "रचनाओं के पीछे सक्रिय आत्मपरक तत्व, भीगे हुए यथार्थ, यथार्थ के बीच से महत्तर यथार्थ की खोज और अंततः उसकी अभिव्यक्ति में उसकीअपनी आत्मिक खोजने उसके नाटकीय व्यक्तित्व को अद्‌भुत गरिमा प्रदान कीथी। इसका ही परिणाम था कि बाद के यथार्थवादी, अभिव्यक्तिवादी, अतिप्रकृतिवादी,दादावादी, ऐब्सेर्डवादी नाटककारों ने उससे प्रेरणा के

[1],सारिका मार्च1973,पृ-61

सूत्र निकाला।"[1] पारिवारिक जीवन की आफतों को उजागर करते हुए मानव की संत्रास की अभिव्यक्ति उनका ध्येय था।

लहरों के राजहंस

मोहन राकेश के 1963 में प्रकाशित नाटक 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के 'सौन्दर नन्द' पर आधारित है। इस नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आधुनिक मानव के द्वंद्व- संघर्ष को उदघाटित करते है। राकेश कहते हैं- "कथा का आधार अश्वघोष का सौन्दर नन्द काव्य है, परंतु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है।..... यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा आश्रय मात्र है। क्योंकि मुझे लगता है कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है।"[2] अतः स्पष्ट होता है कि यहाँ पति-पत्नी के बीच का अनिर्णय, अलगाव और अनिश्चय की स्थिति से उत्पन्न मानव जीवन के दुघर्ष की दस्तावेज है।

नाटक के नायक नन्द गौतम बुद्ध के सौतेले भाई एवं कपिलवस्तु के युवराजा है साथ ही साथ सुन्दरी के पति भी है। नन्द और सुन्दरी के पारिवारिक जीवन में उपजी समस्याओं का विश्लेषण करते हुए आधुनिक

---

[1], ,डॉ.गोविन्द चातक :आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा मोहन राकेश,पृ-16

[2], मोहन राकेश:लहरों के राजहंस, पृ-10

व्यक्ति के संघर्षपूर्ण जीवन को संप्रेषण कर रहे हैं । रूपवति सुन्दरी की कामोत्सव की तैयारी के साथ नाटक शुरू होता हैं । सुन्दरी तथा नन्द के बीच संघर्षों के साथ नाटक की कथावस्तु आगे जाती है । इस प्रतिस्पर्धा को नाटक का मुख्य विषय माना गया है । वैवाहिक जीवन प्रेमपूर्ण होने पर भी व्यक्ति के अन्दर मन का द्वंद्व पारिवारिक जीवन को जितना तुडवाते है उसका चित्रण राकेश ने किया है । "सुन्दरी नन्द से वास्तव में बहुत प्रेम करती है, पर इस प्रेम में गहरा आत्मविश्वास भी है, जिसका पोषण सुन्दरी के जीवन दर्शन से होताहै । नाटक का मूल द्वंद्व पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों का द्वन्द्व है । सुन्दरी पृथ्वी के प्रतीक में पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बाँधे रखना चाहती है-पुरुष बंधन चाह ने पर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिव जिससे अपने लिए उपलब्धि ढूढना चाहता है । बुद्ध पार्थिवता को तिलांजिलि देकर उस उपलब्धि की ओर जाते है-नन्द तिलंजलि नहीं दे पाता, नहींदेना चाहता । उसकी खोज है पार्थिवता के अंदर अपार्थिव को पाने की । इस लिए वह संशयग्रस्त है, एक प्रश्नचिन्ह है ।"[1] आधुनिक पारिवारिक जीवन के बीच यही संघर्ष मौजूद है जो उसकी जिन्दगी को और भी उलझन में डालते है ।

---

[1], मोहन राकेश :लहरों के राजहंस, पृ- 23

नाटक में यशोधा-सिद्धार्थ के माध्यम से नाटककार इस तथ्य को स्थापित करता है कि पारिवारिक सफलता में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में कहते हैं "राजकुमार सिद्धार्थ क्यों एक रात चुपचाप घर से निकल पडे थे? क्यों उन्हें घर की अपेक्षा जंगल का आश्रय अधिक आकर्षक जान पडा था ? बात बहुत साधारण सी है, अलका ! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"[1]

सुन्दरी के गर्व नन्द के अन्दर संघर्षों को और भी झकझोरता है। नन्द को हमेशा अपने तक सीमित रखने की इच्छा रखते हुए सुन्दरी कहती है - "क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा के अनुसार, उडाकर कहीं चले जाते ? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण क्या इतनी आसानी से छूट सकता था ।"[2] अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव भी इसमें विद्यमान है । काम संबन्धों की बदलती भूमिका को आच्छादित करते है। "कामवासना का उद्धेश्य प्रेमी या प्रेमिका का शारीरिक यथार्थ प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उसकी स्वतंत्रतापर अधिकार करना होता है।" [3] ऐसी आयातित

---

[1],मोहन राकेश :लहरों के राजहंस, पृ-53

[2],मोहन राकेश :लहरों के राजहंस, पृ-144-15

[3], प्रभा खेतान:सार्त्र के अस्तित्ववाद,पृ-155

विचारधारायें पारिवारिक विघटन के मूल कारण है । पुरुष पर अधिकार पाने की लालसा दाम्पत्य जीवन को बेचैन करता है।"नारी जितना भी अधिक प्रेम पाती है, उतनी ही वह अपने अस्तित्व से वंचित होती है और उतनी ही अधिक असुरक्षा और दयनीयता उसके हाथ आती है ।"[1]

लहरों के राजहंस में वास्तव में व्यक्ति की अनिर्णय स्थितियों का उद्घाटन करते हुए अंदरूनी संघर्ष को प्रश्रेय देने की कोशिश की गयी है । नन्द के जीवन मेंजो संघर्ष था वह मुख्यतः पार्थिव और अपार्थिव के बीच का संघर्ष है जो मात्र नन्द के ही नहीं आधुनिक मानव का भी है । बदलते हुए पारिवारिक जीवन और उसकी टकराहट को बहुत ही संवेदना के साथ राकेश ने अभिव्यक्त किया है ।

आधे अधूरे

1969 में प्रकाशित 'आधे अधूरे' भारतीय महानगरीय माहौल में जन्मी पारिवारिक टूटन की अभिव्यक्ति करते हुए आधुनिक मानव की समस्याओं का पर्दाफाश करते है । युगचेता कलाकार होने के निमित्त राकेश अपने युगीन समय में मौजूद मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की समस्याओं को वाणी देते है । आज़ादोत्तर भारतीय जीवन के खोखले

---

[1],डॉ गोविन्द चातक :आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश, पृ-64

आदर्श संप्रेक्षणीयता के साथ राकेश के नाटकों में चित्रित है जो मानव के अवसाद और हताशा को आच्छादित करने में सक्षम है । आधे अधूरे वर्तमान मानव की दर्दनाक पीडा का दस्तावेज है । बदलते हुए पारिवारिक मूल्यों का चित्रण करते हुए नाटककार घटनाहीन, मूल्यशून्य मानव जीवन को रेखांकित करते है।

नाटक में सावित्री और महेन्द्रनाथ के दाम्पत्य जीवन में उपजे दुघर्ष परिस्थिति का चित्रण करते हुए पारिवारिक जीवन की करुण त्रासदी को उपस्थित करता है। आत्मनिर्भर नारी का आस्थाहीन जीवन तथा नई पीढी के दिशाहीन जीवन को इसमें संजोये हुए है। कामकाजी नारी सावित्री के कन्धे पर घर का दायित्व है । पति महेन्द्रनाथ अपने को बेवफा मानते है जो आधुनिक अस्तित्वबोध से पीडित टाइप वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है - "शायद अपने बारे में इतना कहदेना काफी है कि सडक के फुटपाथ पर चलते आप अचानक जिस आदमी से टकराजातेहै, वह आदमी मैं हूँ ।"[1]पारिवारिक जीवन की उलझनें व्यक्ति जीवन को जितना दुघर्ष बना देता है,उसका शिकार है महेन्द्र । बदलते पारिवारिक मूल्यों को खुद भोगते हुए वह नई मान्यताओं को स्वीकार करते है। "जब -जब किसी नई आदमी का आना जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा

[1],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-12

शुक्र मानता हूँ । पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था।"[1] महत्वाकाँक्षा की भूख तथा पूर्णता की खोज में भटकनेवाली सावित्री वैवाहिक मूल्यों को अनदेखा करती है " मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी ।"[2] संघर्षपूर्ण, तनावग्रस्त पारिवारिक जीवन की त्रासदी को संप्रेषण करने में नाटक सर्वथा समर्थ है । राकेश कहते है- "यह शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेल रही है, उनके जोश, पराजय, इच्छाऐं, संघर्ष और इसके साथ साथ स्थिति का हाथ से फिसलते जाना सब कुछ इसमें दिखाने की कोशिश की है ।"[3]

नौकरी पेशानारी सावित्री का पति बेकार है, पत्नी की देखभाल में है । परंतु सावित्री हमेशा एक पूरा आदमी को चाहती है । "वह नफरत करती है इन सबसेइस आदमी के ऐसा होने से।वह एक पूरा आदमी चाहती है, अपने लिए –एक पूरा आदमी ।"[4]आधुनिक नारी की यौन उच्छृखलता को सावित्री के माध्यम से प्रस्तुत किया है । अपसंस्कृति के प्रतीक सावित्री के जीवन में तीसरे ही नहीं चौथे,पाँचवें भी आते हैं । उनमें पूर्णता टूटने से भी अतृप्ति ही मिलती है " सब के सब.....सब के

---

[1],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-22

[2],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-10

[3],मोहन राकेश: साहित्य और संस्कृति,पृ-172

[4],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-102

सब एक.... से । बिलकुल एक से है आप लोग । अलग-अलग मुखौटे पर चेहरा ? चेहरा सबकी एक ही ।"[1]

पत्नी के रूप में सावित्री हमेशा असफल है । कमाऊ होने पर भी व्यक्ति की स्वतंत्रता की चाह के निमित्त माता की भूमिका में भी असमर्थ है । माँ के पुनीत रिश्ते को अनदेखा करते हुए कहती है- " यहाँ पर सब लोग समझते क्या है मुझे? एक मशीन, जो की सब के लिए आँटा पीस-पीस कर रात को दिन और दिन को रात करते रहती है। ..... आज से मैं सिर्फ़ अपनी ज़िन्दगी को देखूँगी-तुम लोग अपनी अपनी जिन्दगी को खुद देख लेना।"[2] पारिवारिक टूटन तथा बदलते पत्नी एवं माता के संबन्ध में शिवसागर मिश्र का कथन है " माँ की करुणामयी मूर्ति ही परिवार के अस्तित्व की अनिवार्यता को सिद्ध करती हैं । आज के विघटित, असंपृक्त संयुक्त परिवार में, जहाँ असंयमित, स्वार्थजनित एवं वैयक्तिक भावनाओं के पारस्परिक संघर्ष का मूक झंझावात चलता रहा है, यदि माँ की त्यागमयी सहज, सजीव प्रतिमा की प्रेरणा न हो, तो परिवार की परंपरा सूखे पत्ते की भाँति हवा में उड कर समाज़ की आँखों से ओझल हो जाये ।"[3]

---

[1],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-109

[2], मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-49

[3], शिवसागर मिश्र: आधुनिक परिवार में अभिव्यक्त धर्म संकट :रेखायें और रंग , पृ-136

बदलते हुए मूल्यों की स्थापना की नज़रिए से महत्वपूर्ण नाटक है आधे अधूरे । बेकार होने के नाते पत्नी के तीसरे की खोज को मौन रूप से देखनेवाला महेन्द्र एक नये संघर्ष को ढोता है। "तो लोगों को भी पता है वह आता है यहाँ।"[1]मूल्यशून्य पारिवारिक जीवन के चित्रण करते हुए राकेश आज़ादोत्तर मानव की त्रासद स्थितियों एवं दिशाहीन समाज की अभिव्यक्ति देते है। "आधे अधूरे सातवें दशक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाटक है । इसमें राकेश ने अपने पूर्ववर्ति नाटकों की तरह किसी ऐतिहासिक आधार को न ग्रहण कर समकालीन जीवन की संवेदनाओं को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है । यह नाटक केवल मध्यवर्गीय अधूरेपन की कहानी कहने का प्रयास करता है।"[2]

नई पीढी के पथभृष्ट होने के कारण के रूप में पारिवारिक टूटन को देखा जा सकता है । अशोक दिशाहीन युवा पीढी का प्रतिनिधि है । स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग के प्रवक्ता राकेश ने युवा वर्ग के असंतोष को यों प्रकट किया है। इस सन्दर्भ में द्विजराम का कथन है- " अशोक इस नाटक में एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता है, असंतुष्ट युवा वर्ग का।.....वर्तमान पीढी के युवा वर्ग में जो बढता हुआ असंतोष और विद्रोह भटक रहा है,

---

[1], मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-17

[2],सं,सुन्दरलाल कथूरिया :नाटककार मोहन राकेश,पृ-189

उसका सारा कारण अशोक में छिपा हुआहै।"[1] अशोक इच्छाहीन आधुनिक युवा है जो हमेशा हीनता ग्रंथी के शिकार है । घर में मेहमान आना उनके लिए घुटन पैदा करती है । " बुलाती क्यों हो ऐसे लोगों को घर पर कि जिनके आने..... जिनके आने से हम जितने छोटे है, उससे और छोटे हो जाते है, अपनी नज़र में ।"[2] वर्तमान जीवन में समस्याओं से भाग कर से सेक्स की ओट में छिपाकर रहने की कोशिश करनेवाला अशोक सावित्री का ही दूसरा रूप है। मूल्यहीन पारिवारिक संन्दर्भों को यों चित्रित किया गया है । अश्लील पुस्तक घर पर लेते हुए अशोक कहते है "नहीं..... .... आपके देखने की नहीं है ।"[3] बिन्नी और किन्नी भी मूल्यहीन संघर्ष के संवाहक है । माँ के प्रेमी के साथ भागनेवाली बिन्नी तथा किशोरावस्था में ही सेक्स संबन्धों में रुचि खोजनेवाली किन्नी, दोनों पतनशील पारिवारिक जीवन की ही उपज है ।

पारिवारिक टकराहट में युवा वर्ग की भावना को महत्वपूर्ण मानते है । मध्यवर्गीय जीवन संघर्ष पीढी दर पीढी के अन्तर को आगे ले जाते है । इसके साथ सामाजिक अवमूल्यन भी संघर्ष को और भी गहरा बना देता है । "आधे अधूरे में दो पीढियों के बीच अधूरेपन की यही

---

[1], द्विजराम यादव :मोहन राकेश के नाटक, पृ-145

[2],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-61

[3],मोहन राकेश :आधे अधूरे, पृ-43

विसंगती है बडी उम्र के लोग सावित्री, सिंघनिया, जगमोहन, सब युवाओं जैसा विकृत व्यवहार करते हैं। ऐसी हालत में तेरह वर्ष की उम्र में किन्नी वयस्कों की तरह सेक्स की चर्चा में आनंद लेने लगती है, बडी लडकी माँ के प्रेमी के साथ भाग जाती है। और लडका नंगी तस्वीरें काटने में दिन गुजारता है।"[1]

आधुनिक पारिवारिक जीवन और उसकी सारी समस्याओं को समेटते हुए आधे अधूरे आज भी अपने अनोखे स्तर पर शोभित है। आधुनिकता के तहत उपजे पारिवारिक संघर्ष तथा महानगरीय जीवन की संत्रास पूर्ण अभिव्यक्ति देते हुए नाटक मानव के कठिन अवसाद को प्रस्तुत करते है।

लक्ष्मीनारायण लाल

समकालीन मानव जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाले लक्ष्मीनारायण लाल ने हिन्दी नाट्य क्षेत्र में नई चेतना का प्रवाह किया है। आधुनिक नाट्य कला में ग्रामीण लोक कथाओं का समावेश करने की उनकी दक्षता अनुपम है साथ ही स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मानसिकता के संप्रेक्षण में भी आपका नाटक सक्षम है। "इनकी नाट्यकृतियों में इतना वैविध्य है, प्रयोगों की इतनी बहुलता है, विचारों का इतना विस्तार है,

---

[1],डॉ गोविन्द चातक :आधुनिक नाटक का मसीहा मोहन राकेश, पृ-86

प्रश्नों की इतनी भरमर है कि जो भी इनके नाटक पढता अथवा रंगमंच पर देखता है वह विचारों, समस्याओं, प्रश्नों की एक लंबी कतार साथ लेकर घर लौटता है।"[1]

हिन्दी नाटक के ऊर्जस्वी प्रवक्ता लाल आधुनिक शैलियों का भी समावेश करता है। रंगमंच को ध्यान में रख कर नाटक लिखने के कारण उनके नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों का उचित समावेश मिलते है। नाटककार होने के साथ साथ अभिनेता और निर्देशक के रूप में भी लाल मंच से संबन्ध जोडते है। नाट्य सृजन को अपना मानते हुए लाल लिखते है "हमारे स्वधर्म में नाट्य लेखन है .....हम दूसरे धर्म नहीं जाएँगे। जो मेरा धर्म है उसी में रहूँगा। हम नाटककार है तो नाटक ही लिखेंगे।"[2]

डॉ लाल ने आज़ादोत्तर भारतीय पारिवारिक जीवन की बदली हुई भूमिका तथा नर-नारी संबन्धों के नवीन द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। बढते हुए पारिवारिक संघर्ष में स्त्री-पुरुष संबन्धों की अनिवार्यता की ओर इशारा करते हुए लाल कहते है " प्रकृति और पुरुष तो सनातन है, ये दो शक्तियाँ हैं। एक जल है तो दूसरा ताप हैं। एक धरती है तो दूसरा सूरज हैं। बिना एक के दूसरे का अस्तित्व नहीं। दोनों को दो बने रहना

---

[1],डॉ दशरथ ओझा :आज का हिन्दी नाटक प्रगति और प्रभाव ,पृ-76

[2]सं ,सुभाष भाटिया: लक्ष्मीनारायण लाल का रंगदर्शन ,पृ-33

ही उनकी अपनी अस्मिता हैं। तभी इन दोनों के योग से तीसरे का सृजन और विकास होगा।"[1] अतः इन संबन्धों में संघर्ष उपजने से बीच का सहजधर्मा भाव मिट जाता है।

आधुनिक संवेदनहीन मानव की नियती का सच्चा चित्रण करके समाज के आगे झूठे मुखौटे को उतारना नाटककार का उद्धेश्य है। पारिवारिक जीवन और नारी जीवन की त्रासदी को उद्घाटित करते हुए नाटककार ने मानव जीवन को सीधे रंगमंच से जोडने का काम किया। " इनकी नाट्यानुभूति सामाजिक सत्य के विश्लेशन और आवश्यकता के अनुसार नये जीवन दर्शन गढने की आवश्यकता से जुडी है, परिवार का प्रसंग यहाँ भी है, पर इष्ट यहाँ परिवार के सुख दुख का कथन कहना नहीं, व्यक्तिगत अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना नहीं। इसके विपरीत परिवार और परिवार के सदस्य उस व्यापक सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति के माध्यम बनते है।"[2]

अंधा कुआँ

लाल की प्रारंभिक रचनाओं में शैलीगत विशिष्टता के कारण अंधा कुआँ अनोखा है। भारतीय देहाती संस्कृति में मौजूद घिनौनी

---

[1], लक्ष्मीनारायण लाल :सगुन पंछी,पृ-14

[2], नरनारायण राय :लक्ष्मीनारायण लाल की नट्यसाधना,पृ-29

पारिवारिक त्रासदी को यहाँ अभिव्यक्त किया गया है । संपूर्ण कथा कमालपुर गाँव के कृषक भगौती तथा उसकी पत्नी सूका पर केन्द्रित है । इसमें तथाकथित भारतीय वैवाहिक संस्था का अत्यंत मार्मिक चित्रण उपलब्ध है । सूका की शादी भगौती से होती है लेकिन उसके मन में इन्दर है । इससे स्पष्ट होता है कि शादी संबन्धी बातों में निर्णय लेने में ग्रामीण नारी असमर्थ है । पति रोज़ उसे मार पीटते है, उससे बचने के लिए वह अपनी प्रेमी इन्दर के साथ भाग जाती है लेकिन उसकी मुक्ति नहीं हो पाई । पुलीस की सहायता से मुकदमा चला कर भगौती उसे वापस लेते हुए कहते है "इसलिए कि मैं अपनी बेइज्जती का बदला लूँ ।"[1]

सूका अनमेल विवाह तथा विवाहित नारी की सारी त्रासदी को अपने मैं समेटती है- " इजलास से छुटाकर इस घर में आये हुए आज डेढ महीने बीत गये । तब से आज तक एक दिन भी न हुआ होगा, जिस दिन उसने मुझे मारा न हो । जो साडी पहन कर इजलाज से आयी थी, वह आज तक मेरे तन पर सड रही थी।"[2] इसके माध्यम से लाल नारी जीवन की त्रासदी को भारतीय पारिवारिक जीवन के संन्दर्भ में आंकने की कोशिश करते है । आम तौर से विवाह तो प्यार के पुनीत बन्धन है । भगौती और सूका के बीच प्रेम का स्थान अहं ने हासिल किया । पुरुष

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुऑ, पृ-5

[2],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुऑ, पृ-9

वर्चस्वादी समाज में भगौती और साथी लोग नारी को मात्र वस्तु मानते है। "औरत की जात, इनका तो मुँह तोड कर रख दें ..... सारा जहर तो इनकी आँख और जबान में है।"[1]

अपनी पत्नी को बाँझ कह कर भगौती निर्मम पीडा देते है। स्थिति इतनी घृणित होती है कि सूका आत्महत्या के लिए तैयार होती है। परंतु वह जिस कुए में आत्महत्या के लिए कूदती है, वह सूका की जिन्दगी के समान प्रेमहीन, जलहीन था- " मैं मरने केलिए भी गयी तो मुझे अंधा कुआँ ही मिला था।"[2] इसके बाद भगौती उसे बाँन्ध कर रखते है। सैकडों युगों से भारतीय पुरुष इसतरह नारी को पीटते रहे थे। पुरुष के अहं ग्रस्त पारिवारिक जीवन को घिनौना बना देता है- "हमारे बाबा एक बात कहा करते थे मौसिया, कि औरत और भेड दो चीज़ें नहीं होती है न दिमाग, न रीढ की हड्डी; बस इनके एक चीज़ होती है गर्दन, जिस किसीने इनकी गर्दन नापली बस ये उन्हीं की हुई।"[3]

पारिवारिक जीवन में मौजूद नारी शोषण को प्रस्तुत करते हुए नाटक ग्रामीण जीवन को मंच पर ला आता है। पति जितना भी निकम्मा, निर्म्मम हो फिर भी भारतीय पत्नी उसके चरणों पर मोक्ष

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुआँ, पृ-25
[2],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुआँ, पृ-60
[3],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुआँ, पृ-61

पाती है । सूका कहती है "अंधा कुआँ यही है जिसके सँग मैं ब्याही गयी हूँ- जिसमें एक बार मैं गिरी कि फिर न उबरी । न कोई मुझे निकाल पाया, न मैं खुद निकल ही पाऊँगी । बस धीरे धीरे इसी में चुककर मर जाऊँगी ।"[1] ग्रामीण पत्नी की अवसाद की करुण त्रासदी को देख कर डॉ.रमेश गौतम कहते है " ग्रामीण पृष्टभूमि में उन्होंने सूका और भगौती के माध्यम से पति-पत्नीके संबन्धों की पडताल की है और पाया है अंधा कुआँ है – भारतीय वैवाहिक पद्धति, जिसमें गिरने पर मुक्ति संभव नहीं । नायिका गाँव के स्थूल कुएँ से बच जाती है पर पति के क्रूर अत्याचारों से नहीं । सूका वर्ग चरित्र है उन पुरुषों का स्त्री शोषण - अत्याचार ही जिनका 'पुरुषार्थ' है ।"[2]

संक्षेप में कहा जाय तो लाल देहाती संस्कृति का उपासक है । अतएव अंधा कुआँ भारतीय पारिवारिक शोषण को व्यक्त करते है । जितना भी पीडा हो फिर भी बन्धन को साधने वाली सूका पति पर पडने वालीचोट को खुद स्वीकारते है " मेरे जीते जी यह नहीं हो सकता ।"[3] इस सन्दर्भ में डॉ दशरथ ओझा का कथन है "अंधा कुआँ प्रतीक बना, उस विवेक हीन अन्ध व्यक्ति और अंध समाज को जो नारी को एक जड वस्तु से

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुऑ, पृ-128

[2]डॉ रमेश गौतम :नाट्य विमर्श , पृ-152

[3]लक्ष्मीनारायण लाल :अंधा कुऑ, पृ-128

अधिक सम्मान नहीं देता। नारी रूपी नियती बार बार इस कुए में गिरती है, निकलती है, फिर गिरती है और अंत में इसी को समर्पित होकर इसी में अपनी आहुती दे देती है।"[1] दाम्पत्य जीवन में सूका जिन दुघर्ष स्थितियों से गुज़रती है उसकी तुलना करना नामुमकिन है । भारतीय मूल्यहीन जीवन सच्चाईयों को अभिव्यक्ति देते हुए पारिवारिक जीवन के कटु यथार्थ को पाठकों के सामने खींच कर लाया है।

मादा कैक्टस

लक्ष्मीनारायण लाल ने स्वातंत्र्योत्तर विसंगतियुक्त पारिवारिक जीवन को 'मादा कैक्टस' के प्रतीक के माध्यम से चित्रित करके मानव जीवन की अर्थहीनता की और इशारा किया है । प्रतीकों के द्वारा समाज की कटु आलोचना करनेवाले लाल, नारी के रूप में मादा कैक्टस को स्वीकार करके मूल्यहंता समाज पर तीखा व्यंग्य करते है । नाटक की प्रतीकात्मकता के सन्दर्भ में लिखते है- " बात टेढी ठीक इसलिए । तभी इसमें प्रतीक का सहारा लेना पडा । संगीत से लेकर कार्यों तक, घटनाओं से पात्रों तक, नीलाम के बाजे से अनाथालयों के बच्चों के गीत तक .....

[1],डॉ. दशरथ ओझा :आज का हिन्दी नाटक :प्रगति और प्रभाव ,पृ-76

..... मादा कैक्टस का प्रतीक, प्रतीक योजना फैशन के लिए नहीं-प्रतीक महज-प्रतीक केलिए।"[1]

इसमें नायक कालेज प्रिंसिपल एवं कलाकार अरविंद है, जिन्हें जीवन संबन्धी पूर्वनिर्धारित धाराणाऐं है। आधुनिक शिक्षा से प्रभावित अरविन्द को कैक्टस प्रिय है -" साब को कैक्टस इतने पियारे है कि जैसेइन्हीं की नीन्द में वे सोते- जगते है। साब कहते है कि मैं खुद कैक्टस हूँ।"[2] अरविन्द ने ये विचार स्त्री-पुरुष संबन्ध में भी लागू किया। वह सोचती है " ये कैक्टस आपस में मिल न पाये। इस मादा कैक्टस ने मेरे पाँच उम्दा कैक्टस को सूखा डाला।"[3] पाश्चात्यीय प्रभाव के कारण अरविन्द पति-पत्नी के बीच नया अर्थ भरा देता जो मानव को बेचैन करने केलिए सक्षम है।

युवा वर्ग आदर्श जीवन दर्शन से हीन हो पाया है।यह अभाव उसे पथभृष्ट करते है। ऐसी द्रष्टिसे देखा जाये तो पारिवारिक टूटन एवं घटना हीन जीवन की अभिव्यक्ति इस नाटक की खूबी है। अरविन्द की बेकार सोचों से उनका पारिवारिक जीवन टूट जाता है। झूठी अवधारणा के निमित्त अपनी पत्नी सुजाता को छोडते हुए कहते है " जब से सुजाता से

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-2

[2],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-26

[3],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-34-35

मेरा विवाह हुआ, तब से मेरी सारी प्रतिभा, रचनात्मक शक्ति क्षीण होती जा रही है ।"[1] ऐसी सोच पारिवारिक अवधारणा को भी खतम करने केलिए सक्षम है । दिशा हीन युवा पीढी को सच्चाई से अवगत कराना भी लेखक का उद्धेश्य है ।

आधुनिक दाम्पत्य जीवन के अर्थशून्य संघर्ष को चित्रित कर के पारिवारिक जीवन पर उपजे नये संघर्ष को वाणी देता है । आज़ादोत्तर बदलाव ने परिवार को अस्तित्वहीन बना दिया । अहंवादी पुरुष शादीशुदा पत्नी को छोड कर दूसरी स्त्री की खोज करने लगा । इस सन्दर्भ में अरविन्द काफी महत्वपूर्ण है । उसने अपनी पत्नी सुजाता को छोड कर मित्र अरविन्दा से संबन्ध जोडता है । लेकिन उसको विवाह में तब्दील होने नहीं देता " मैंने कई बार कहा है कि किसी स्त्री पुरुष के संबन्ध में ब्याह से भी बडी कोई चीज़ होती है उसके सामने ब्याह महज एक बच्चों का घरौंदा है घरौंदा भी ऐसा जो बहुत पुराना ही चला है।"[2] वैवाहिक संबन्धों में जन्मी मूल्यहीनता को रेखांकित करके लाल ने स्थापित किया है कि आज का नवयुवक शादी के बिना संग में रहना चाहते है । जिससे उत्पन्न संघर्ष व्यक्ति को उलझन में डालता है । जीवनानुभव से विहीन उनका रास्ता अंत में दिशा हीन बना देता है ।

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-32

[2],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-47

"मादा कैक्टस कभी नहीं सूखती।असंभव मादा कैक्टस कभी नहीं सूखती..... ..कभी नहीं .. कभी नहीं ।"[1]

द्वितीय युद्धोपरांत स्थितियों ने मानव जीवन को तहस नहस किया । दिशाहीन मानव भटकने लगा । आधुनिक बनने के लिए सामाजिक मूल्यों को अस्वीकार कर के नये मूल्यों का सृजन करते है । परन्तु अंत में ऐसी हालत हो पडता है कि न उधर जा सकता है न इधर । मानव की ऐसी विवशता को अरविन्द के द्वारा यहाँ उपस्थित किया है । विवाह को मात्र 'घरौंदा' मानने से, 'संग' जीने के लिए तैयार अरविन्द के जीवन संघर्ष के माध्यम से बदलते हुए पारिवारिक जीवन का भी परिचय देता है ।

दर्पन

पंरपरा और आधुनिकता के बीच जो संघर्ष था उसे प्रश्रय देनेवाला नाटक है 'दर्पन' । संघर्ष और बन्धनों से मुक्ति पाने की छटपटाहट लाल के नाटकों की खासियत है । दर्पन नारी की दुविधाग्रस्त मानसिकता का परिणाम है । बौद्ध मठ के अनासक्त वातावरण से बेमेल होकर बाहर आती हुई, पूर्वी नाम स्वीकारने से उपजे संघर्ष को प्रस्तुत करके आध्यात्म और भौतिकता के बीच के संघर्ष को इसमें उद्घाटित

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :मादा कैक्टस , पृ-80

किया है। दर्पन में आधुनिक मानव की इसी त्रासदी का लोकार्पण हुआ है। "हम अपने वर्तमान में जीवन और नाटक से डरते है बल्कि इसलिए कि वर्तमान हमारी पकड से बाहर है। हम जीवन के तटस्थ जो है। हम नदी के कगार पर खडे होकर नदी से साक्षातकार करना चाहते है। हम डरते है कि नदी में पैर रखा नहीं कि हम भीग जाएगे।"[1]

हरिपद्म और पूर्वी के बीच का प्यार शादी में परिणत होने लगता है। लेकिन वहाँ रूढी के निमित्त हरिपद्म और पिता के मध्य टकराहट आती है। शादी के लिए नारी के कुल ,परंपरा का बोध होना आज भी अनिवार्य है। युवा पीढी नवीन आदर्शों की स्थापना करके परंपरा भंजन करते हुए आगे जाती है। "आप महज किसी के बाहर के परिचय को महत्व देते है। जाति, स्थान, कुल, परंपरा मेरे लिए इसका कोई महत्व नहीं। मेरे लिए सारा महत्व किसी के आंतरिक परिचय से है।"[2]

इसमें आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का लोकार्पण करने के साथ साथ परंपरा की अंन्धी नीति के वास्ते खण्डहर होनेवाले नारी जीवन की करुणा को भी समेटा है। दर्पन को प्रचलित रूढियों के निमित्त असली जिन्दगी टूट जाती है-"मूल नक्षत्र में जन्मे, आठवें में मंगल, तीसरे में राहु, चौथे में केतु और सातवें में शनी। सिर पर उसके तीन लटें थी- त्रीशूल

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल:दर्पन ,पृ-6

[2], लक्ष्मीनारायण लाल:दर्पन ,पृ-23

लट । दाई हाथ पर चन्द्रमा और कमल । गुरु महाराज ने बताया लडकी परिवार में रखने योग्य नहीं है।"[1]ज्योतिष के कारण दर्पन को बौद्ध मठ में पालना पडा । यहीं उनके जीवन संघर्ष का आरंभ होता है । बिना ही उसके अपराध के समाज द्वारा सन्यास थोपा जाता है । अपनी दुर्दशा को व्यक्त करते हुए कहती है " एक जीवन होता है।और एक भीतर का मन होता है । दोनों संघर्ष करते है।"[2]

बौद्ध मठ में जो अनमेल वातावरण है, उसका भी संघर्ष दर्पन में आच्छादित है । अग्रज पीढी तथा अनुज पीढी की प्रतिस्पर्धा से मठ भी असंपृक्त नहीं। परंपरा को चुनौती देते हुए, रूढियों का खण्डन करते हुए दर्पन कहती है "बौद्धमठ के लामा महाराज से एक बार सख्त लडाई हो गयी थी । वह कहती ठीक कि –जब सत्य ही परिवर्तनशील है तो बौद्ध मठ में वही पुरानी रूढियाँ क्यों ?..... मानवता की सेवा केलिए...मानवता की सेवा तो प्रेम है ।"[3] गोया कि जहाँ शांति की चाह है वहाँ का वातावरण आज़ कलुषित है । संघर्षरत परिवेश में व्यक्ति की पीडा और भी निर्मम होती है । नरनारायण राय ने दर्पन के संघर्ष को यों दिखाया है "दर्पन का दार्जिलिंग के बौद्ध मठ में जिया गया जीवन-

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल:दर्पन ,पृ-43

[2],लक्ष्मीनारायण लाल:दर्पन ,पृ-80

[3],लक्ष्मीनारायण लाल:दर्पन ,पृ-48

जीवनेतर संन्दर्भ से पूर्वी के रूप में हरिपद्म के घर जिया गया जीवन, जीवन के साक्षात्कार से उत्पन्न परिस्थितियों में जीवन जीवनेतर के बीच का अंतसंघर्ष के नाटक जुड जाते है ।"[1]

वर्तमान समाज की तमाम विडंबनाओं को रेखांकित करने में दर्पन सक्षम है । थोपे गये धर्म, मानवता के लिए अपराध है, अमंगल है । इसका प्रमाण है दर्पण की त्रासदी । आधुनिक युग में भी मानव अतीत में जीकर, धर्म के नाम पर जीवन जितना दुघर्ष बना देता है, दर्पन इसी समस्या को समेटलेती है । परंपरा से मुक्त होने के लिए दर्पण ने जो छटपटाहट की अंत में असफल होकर उसीमें जुडे रहने के लिए विवश होती है । पूर्वी के तनावग्रस्त जीवन संघर्ष को अंकित करके अध्यात्म और भौतिकता के बीच की चिरंतन टकराहट को अभिव्यक्त किया गया है । धर्म और विवाह एवं मानवीय संबन्धों के मध्य मौजूद प्रतिस्पर्धा का चित्रण करने में लाल सफल हो पाए है ।

रातरानी

रातरानी में नाटककार ने पारिवारिक जीवन में उपस्थित संघर्ष को प्रश्रेय दिया है । आदर्श और यथार्थ के संघर्षों को प्रस्तुत करके आदर्शों की अपराजेयता को दिखाना तथा उसके द्वारा तथाकथित भारतीयता

---

[1], नरनारायण राय : नाटक कार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना, पृ-54

को जाग्रत करना लाल का उद्धेश्य है । “रातरानी व्यक्ति संबन्धों की आंतरिक विभीषिका को उजागर करते हुए, दाम्पत्य संबन्धों के गंभीर दार्शनिक विश्लेषन करते हुए, संबन्धों के प्रति एक दार्शनिक दृद्रष्टिका निर्माण करता है ।”[1] आज की युवा पीढी एक जीवन दर्शन के अभाव में जो आत्मसंघर्ष एवं घुटन महसूस कर रही है उसे चित्रित करके मानव मन की अन्दरूनी समस्याओं को पर्दाफाश करके एक सशक्त जीवन दर्शन को अपनाने के लिए लाल हमें बाध्य करते है ।

नाटक के प्रमुख पात्र है जयदेव और कुंतल । जयदेव उच्च वर्ग का प्रतीक एवं कुंतल के पति है । सच्ची जीवन द्रष्टि के अभाव में जयदेव कृत्रिम आकर्षणों के पीछे भाग रहे है । जो उसे सहजता से जीने का अवसर नहीं देता है । अर्थ को सब कुछ माननेवाले के कारण उसके मन में मानवीयता को कोई स्थान नहीं है । वे कहते है- “ यह अर्थ युग है, अर्थ युग एकनोमिक एज ।”[2]

जयदेव की पत्नी कुंतल भारतीय नारी की सारी परंपरागत अवधारणाओं को प्रतिनिधित्व करती है । भारतीय आदर्श से ओत प्रोत कुंतल विवाह को मोक्ष का साधन मानती है । “मैं हिन्दू स्त्री हूँ, पति में श्रद्धा करनेवाली,उसपर भरोसा और विशाव रखनेवाली .... .. हिन्दू स्त्री

---

[1],नरनारायण राय : नाटक कार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना, पृ-61

[2], लक्ष्मीनारायण लाल :रातरानी, पृ-25

प्यार नहीं प्रेम करती है ।"[1] पतिपरायण कुंतल अपने आदर्शों के विरुद्ध होकर भी पति की इच्छाओं का पालन करती है । धूर्त जयदेव को हमेशा सच्चे रास्ते पर लाने की कोशिश करती है । अधुनिकता के पीछे भागनेवाले पति को वह समझाती है- "आज का सारा आधुनिक समाज केवल शरीर के स्तर पर जी रहा है । इसीका फल है आज समाज में इतना झूठ, इतना आडंबर, अविश्वास और ह्रदयहीनता ।"[2] मूल्यहीन संन्दर्भों से अवगत पत्नी पति को राह दिखाने की कोशिश करती है । इस अवसर पर सूरज प्रसाद मिश्र का कथन है- " लाल ने कुंतल को उत्तम गृहणी के रूप में चित्रित करते हुए यह बताना चाहा कि पत्नी घर रूपी बगीचे की रातरानी है जो अपने पति के जीवन में सुख, संतोष और तृप्ति का झरना प्रवाहित करती है ।"[3]

पति-पत्नी के बीच जब संशय की दरार आ पडती है तो सारा जीवन उसकी आग में कोयला बनजाता है । लेकिन कुंतल का साहस महत्वपूर्ण है । जब जयदेव निरंजन से पत्र की बात लेते है तब कुन्तल अपनी अग्नी परीक्षा के लिए स्वतः तैयार हुई । वह अपने पुराने प्रेमी निरंजन से सारी खत मंगवाकर पति को देता है और उसे समझाता है "

---

[1],लक्ष्मीनारायण लाल :रातरानी, पृ-71-72

[2],लक्ष्मीनारायण लाल :रातरानी, पृ-59

[3],डॉ सूरज प्रसाद मिश्र नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल , पृ-71

मैंने आज कल की लडकियों जैसा प्यार भरे फिल्मी गीतों को लबालब खत लिखे होगे। मैं उन लडकियों में नहीं, जो मजनुओं के लैला बनने का स्वप्न देखती है ।"[1] व्यक्ति के अंतर्संघर्षों के निमित्त पारिवारिक जीवन दुघर्ष बनता है । पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को व्यक्त करते हुए खुद लाल ने लिखा है कि " जिस घर में, स्त्री-पुरुष के संबन्धों के बीच व्यक्ति विशेष की सुख-स्वच्छन्दता का ही आधार होगा । वहाँ पति – पत्नी की विषय सम्मिति भी बिल्कुल निजी होगी । सम्मिती ही तब स्त्री-पुरुष के संबन्धों का आधार होगी । इसमें आनन्द नहीं मिलता । इसमें उपजती है ईर्ष्या । पैदा होता है कलह । उसमें कुछ निर्मित नहीं होता । व्यर्थ ही में सब टूटता है । पुरुष स्त्री पर सन्देह ही नहीं अविश्वास करता है।"[2]

जयन्त और प्रेस के कर्मचारियों के बीच के संघर्ष बढ कर हडताल बन जाते है । जब वे जयंत को घेरने के लिए आ रहे थे तब एक आदर्श पत्नी की तरह पति की जान बचाने, उस जंग को शांत करने के वास्ते अपनी सारी गहने लेकर चलीजाती है । कुंतल को देखने निमित्त जुलूस शांत हो जाता है लेकिन अचानक पत्थर से चोट खाकर वह घायल हो जाती है । पत्थर से उसका सिर तो फूटा है परंतु आत्मा अब भी सबल है-

---

[1], लक्ष्मीनारायण लाल :रातरानी,पृ-71

[2],लक्ष्मीनारायण लाल:सगुन पंछि, पृ-9

" मैंने कहा था न, सारी चोट मेरे सिर पर ही लगे , उस ह्रदय में नहीं, जहाँ मेरी श्रद्धा है, जहाँ मेरा विश्वास है ।"[1] इस तरह आधुनिक पारिवारिक जीवन के बदलते भूमिका को अंकित करने में रातरानी सफल है।

संक्षेप में कहा जाय तो रातरानी जीवन द्रष्टिहीन युवा पीढी की दर्दनाक त्रासदी की ओर इशारा करता है। मानव को सुख की खोज है, उस खोज में वह सत्य को छोड कर छायाओं की तरफ भटकता है । इसलिए वह घर छोडकर, होटलों, क्लेबों, जुए जैसे को अपना सुख समझते है । ऐसी मानसिकता से बचने के लिए सुव्यक्त जीवन दर्शन चाहिए। जिससे व्यक्ति संघर्षों से दूर सहजता से जी सके।

लाल के नाटकों में अंधा कुआँ, मादा कैक्टस, दर्पन और रातरानी में बदलती हुई जीवन सच्चाई का रेखांकन हुआ है साथ ही साथ पीढी दर पीढी के बीच के कलह को भी वाणी देने का प्रयास किया है। हम देखते है कि भारतीय समाज कितने जल्दी से पतनोन्मुख हो रहे है । ऐसे सन्दर्भ को रूपायित करके आजादोत्तर मानव की विडंबना को लाल ने प्रस्तुत किया है जोसामाजिक प्रष्ठभूमि में महत्वपूर्ण है । स्त्री-पुरुष संबन्धों के बदलते रूप को देख कर लाल यह सन्देश देते है -

---

[1], लक्ष्मीनारायण लाल :रातरानी,पृ-133

" यहाँ न पुरुष बडा

यहाँ न नारि बडी

दोनों इस रथ के ही धुरी

ईश्वर आप सब की करे

वैसा ही मुराद पूरी।"[1]

शंकर शेष

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रंगमंच तथा नाट्य क्षेत्र में शंकर शेष का नाम काफी चर्चा का विषय रहा है । उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य की अनखोदी ज़मीन को खोदने का महत्वपूर्ण कार्य किया है । नाटक के अंतर्गत आम जन जीवन को रूपायित करने में तथा उसकी संवेदनशीलता को जनता तक पहूँचाने में डॉ लाल ने सर्वथा विजय हासिल की है । युगचेता कलाकार शेष अपने समय का सच्चा आविष्कार करते है । "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में एक अनूठे कथ्य का निर्वाह हुआ है । महँगाई, भृष्टाचार, बेरोज़गारी, घूसखोरी, भाई-भतीजावाद, मानव को अपाहिज बनाने वाली व्यवस्था, मनुष्य का विघटन,

[1],लक्ष्मीनारायण लाल:सगुन पंछि, पृ-9

स्वार्थपूर्ण राजनीति, व्यवस्था और यंत्र का पुर्जा बना मानव आदि कई विषयों के आधार पर नाट्य साहित्य का निर्माण किया है ।"[1]

उनके नाटकों में कथा वस्तु की विविधता तथा संवेदनशील पात्रों के नया तेवर हम स्पष्टतः पहचान कर सकते है । पारिवारिक जीवन संघर्षों का चित्रण करके आधुनिक मानव की त्रासद स्थितियों को रेखांकित किया गया है । समकालीन मूल्यहीन असंगत दशा में जन सामान्य का दम-घुट रहा है । "समसामयिक जीवन की असंगतियों की पीडा को झेला, जिया, भोगा, और युग जीवन की द्वन्द्व पूर्ण संघर्षमयी मनस्थिति को मंच पर साकार किया ।"[2] शंकर शेष अपने नाटकों के द्वारा नवीन जीवन मूल्यों की प्रतिस्थापना करते है । 1955 में मूर्तिकार के सृजन से हिन्दी रंगमंच पर अपनी विजय यात्रा का श्रीगणेश हुआ जो 1981 में प्रकाशित आधी रात के बाद में इतिश्री हुई । इस यात्रा में भारतीय जन मानस को अपने पक्ष में समेट कर आगे गुज़रने में वह कामयाब हुआ ।

---

[1],डॉ प्रकाश जाधव : डॉ शंकर शेष का नाट्य साहित्य, पृ- 292

[2],डॉ सुरेश गौतम, वीणा गौतम : नाट्य शिल्पी शंकर शेष , पृ- 50

रत्नगर्भा

शंकर शेष के दूसरा नाटक 'रत्नगर्भा'नारी जीवन की त्रासद स्थितियों को पर्दाफाश करता है । उसके साथ मनुष्य के स्वार्थ पूर्ण प्रेमहीन पारिवारिक जीवन के खोखलापन को रेखांकित करना भी नाटक का उद्धेश्य है । सुनील और इला पति-पत्नी है । डॉ सुनील महत्वाकाँक्षा एवं प्रशंसा की भूख में भौतिक सुख की खोज करनेवाले पात्र है । पत्नी की गहनें बेचकर विदेश की और प्रस्थाव होने केलिए तैयार सुनिल बदलते हुए मूल्यों का प्रतीक है । यश की लालच मानव को अंधा बनाता है । कीर्ति के इस युग में दुर्घटनावश रूपगरिमा हीन पत्नी को छोडने के साजिश रचते है पति तो भारतीय नारी का प्रतीक इला सोचती है "मेरा पति परदेश अध्ययन करने गया था । मैं चाहती थी कि वे खूब पढे , उनकी कीर्ति विश्वभर में फैलें .... इस दुर्घटना की खबर देने से क्या उनका मन अध्यन में लगता है।"[1] सुनील के,पढाई के बाद लौटने से अपनी पारिवारिक जीवन संपन्न होने की इच्छा इला में थी । लेकिन डॉ सुनील ने सच्चाई की पहचान की तो उसकी प्रतीक्षा अनचाहे होने लगी । स्वार्थी पुरुष अपनी पत्नी को सिर्फ वस्तु, गरिमा प्रदर्शन की सामग्री के सिवा ओर कुछ नहीं मानते । इसलिए सुनील संघर्ष में पड

---

[1], शंकर शेष : रत्नगर्भा, पृ- 14

जाते है । धन दौलत की लालसा में इनसानियत को भूलनेवाला सुनिल का विचार है "तुम्हें इला की हत्या करनी होगी। इससे तुम्हें लाभ होंगे । एक तो हमेशा के लिए तुम्हें इससे मुक्ति मिल जायेगी । और फिर बीमे के पचास हज़ार रुपयों से तुम जीवन का सच्चा आनन्द उठा सकोगे ।"[1]

भारतीय नारी हमेशा पति के पीछे सिकुडकर रहने मेंआनन्द पाती है, चाहे पति जितना भी दूर हो । अंधकार पूर्ण भविष्य की ओर धकेली हुई इला को बहन माया प्रेरणा जगाने की कोशिश करती है - "अधिकारों के लिए लडोगी नहीं तो क्रूरसमाज तुम्हारा सिर कुचाल कर रख देगा ।"[2] इला को सावित्री से साधारण नारी बनाने का जो प्रयास माया करती है वह सर्वथा स्तुत्य है । आधुनिक पत्नी की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहती है " तुम पढी लिखी औरत हो दीदी ! इस तरह भीख माँगना तुम्हें शोभा नहीं देती । उठो दीदी, लडना सीखो ! अब सती और पतिवृता का अर्थ पति के साथ जिन्दा जल जाने में नहीं, उसे सही राह पर लाने में है।"[3]भारतीय पारिवारिक जीवन में मौजूद नारी शोषण को अनावरत करते हुए रत्नगर्भा, रंगमंच में एक नया प्रयोग मानना चाहिए ।

---

[1], शंकर शेष : रत्नगर्भा, पृ- 52

[2],शंकर शेष : रत्नगर्भा, पृ- 37

[3],शंकर शेष : रत्नगर्भा, पृ- 40

बिना बाती के दीप

इस नाटक में शेष ने दाम्पत्य संबन्धों में प्रादुर्भूत नये आदर्शों को अंकित किया है। वर्तमान सामजिक व्यवस्था में नारी शोषण के विभिन्न आयाम को प्रस्तुत करके नाटककार ने बदलते पारिवारिक जीवन को अभिव्यक्त किया है । आज के तथाकथित साहित्य क्षेत्र में व्याप्त खोखलेपन का पर्दाफाश करना लेखक का उद्धेश्य है। नाटक के नायक खुद को महान साहित्यकार घोषित करनेवाले शिवराज है जो अदम्य महत्वाकाँक्षा और प्रशंसा के भूखी है। मूल्यहंता समय में पारिवारिक एवं सामाजिक सन्दर्भ में उपजे पतनशील मूल्यबोध की ओर संकेत देते हुए पारिवारिक जीवन में उपलब्ध झूठे आदर्शों को स्पष्ट करते है। झूठी प्रतिष्ठा के उपलक्ष्य में शिवराज अपनी अंधी पत्नी विशाखा के लिखे हुए रचना को अपने नाम से छपा देता है। तथा पत्नी को हमेशा केलिए अंधी रखने की साजिश रचते है। फिर भी विशाखा भारतीय नारी के प्रतीक के रूप में सब क्षमा की नज़रिए से देखती है।

विशाखा एक सृजनशील लेखिका है, जो नेत्र हीन थी । पहले शिवराज की प्रेयसी थी। यश की लालच में शिवराज ने शादी की उसके लिए विशाखा " अंधी विशाखा सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी बन गयी।"[1]

---

[1], शंकर शेष: बिना बाती के दीप ,पृ-49

पुनीत वैवाहिक जीवन को मात्र साधन माननेवाले मानव की प्रेमहीनता चित्रित करते हुए यांत्रिक जीवन की उपयोगवादी मानसिकता का परिचय देते है । विशाखा से शादी करके, उसके सृजन को अपना नाम देकर यश कमानेवाले पति आधुनिक समाज की ही देन है । परंतु पत्नी विशाखा उसे कृतज्ञता.... से देखती है- "तुम मुझ अंधी की लाठ बनी ।"[1]अपने हाथ से पति परमेश्वर के लिए कुछ न करने की विवशता में दुखित होती हुई कहती है " मैं हतभागनी, तुम्हारे लिए कुछ न कर सकी । तुम्हें एक कप चाय भी बनाकर न पिला सकी । तुम्हारा सूनापन .... तुम्हारे आंगन का सूनापन भी नहीं दूर कर सकी । कभी .... कभी लगता है, मैं तुम्हारी पत्नी के रूप में निरर्थक जी रही हूँ ।"[2]

अंत में असलियत को समझने पर भी अपने पति को मन्नत देनेवाली विशाखा आदर्शहीन समाज के सम्मुख परंपरा का समर्थन करती हुए कहते है "नहीं, शिव तुमने मेरा जीवन सार्थक किया है । तुमने मुझ अंधी से ब्याह कर प्रेम के नये आदर्श स्थापित किये है । न तुम मुझ से ब्याह करते, न ही उपन्यास लिख पाती, न वे छपते, न मेरी भावनाऐं, मेरी पीडा लाखों लोगों तक पहुँचती । तुमने मुझ पर अनंत उपकार किया तुम न रहोगे तो मैं भी न रहूँगी, मैं तुम्हारे बिना कुछ नहीं

---

[1], शंकर शेष: बिना बाती के दीप ,पृ-44

[2], शंकर शेष: बिना बाती के दीप ,पृ-45

कर सकती। तुम मुझ अंधी से प्यार कर सके, तो क्या मैं तुम्हारा एक अपराध भी क्षमा नहीं कर सकती ।"[1] इसमें बदलते हुए पारिवारिक सन्दर्भों को अंकित करते हुए दाम्पत्य के लिए हविस होनेवाले पत्नी को प्रस्तुत करते है ।

घरौंदा

घरौंदा आज़ादोत्तर मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन में व्याप्त खोखले आदर्शों व नैतिक मूल्यों का चित्रण करते है । मध्यवर्गीय जीवन की मूल्यहीनता को पर्दाफाश करना नाटककार का लक्ष्य है । आज के पारिवारिक जीवन के घिनौने नरकीय दृश्य अंकित हुए है । "तीन-पीढियाँ कट गयी, उस सडी-सी चाल में .... उस भीड में । उस नरक में । तुम नहीं जानते सुदीप, जब रात को नींद खुल जाती है तो मेरा शराबी भाई मेरी भाभी के साथ ... उफ़ .. ... वही छीना-झपटी ... रोंगटें खडे हो जाते है ।"[2] नगरीय जीवन की अर्थहीन त्रासदियों को अभिव्यक्त करते हुए जानवरों जैसा जीने के लिए अभिशप्त मानव नियति पर आक्रोश करते है । बढती हुई आबादी और उससे उत्पन्न समस्या को यथार्थ के

---

[1],शंकर शेष: बिना बाती के दीप ,पृ-- 119-120

[2], शंकर शेष : घरौंदा , पृ- 18

साथ शेष ने प्रस्तुत किया है- "एक कमरे का घर .... यह लोग .... हर आदमी चाहता हूँ दूसरा बाहर रहे ।"[1]

घरौंदे में मध्यवर्गीय मूल्यहंता जीवन का अंकन हुआ है इसके साथ साथ छाया और सुदीप के प्रेम के सहारे कामकाजी जीवन के संत्रास को भी समेटा है। छाया नई पीढी के मध्य प्रचलित डायटिंग का विरोध करके उसकी अर्थ हीनता को स्पष्ट करती है " मतलब क्या है तुम्हारा ? कहना क्या चाहते हो ? घर होने से पहले ही तुम से ... और दस- पन्द्रह दिनों में एकाध बार किसी सस्ते होटल में .... किसी बगीचे की झाडियों में । नहीं सुदीप, हम लोग यह रास्ता नहीं अपना लेंगें । शादी के पहले मैं सोच भी नहीं सकता ।"[2] विवाह पूर्व संबन्धों की प्रभुता को दिखाकर, प्रेम जो आत्मा के बीच होता था लेकिन आज वह मात्र जिस्म पर केन्द्रित है । युवा वर्ग समाज सम्मत मूल्यों को नकार कर पाप –पुण्य के बोध का तिरस्कार करते है । उनके अनुसार " पाप केवल एक धारणा है, छाया, उसकी स्थाई व्याख्या नहीं है। सामर्थ्य और प्रसंग ही उसके होने न होने का फैसला करता है ।"[3]

---

[1], शंकर शेष : घरौंदा , पृ- 15

[2],शंकर शेष : घरौंदा , पृ- 15-16

[3], शंकर शेष : घरौंदा , पृ-48

मध्यवर्गीय मानसिकता में अर्थ की प्रभुता है। इस अर्थ लोलुपता के कारण सुदीप छाया से मोदी के साथ शादी करने का प्रस्ताव रखता है। यहाँ घिनौने मूल्यहीनता तथा अपसंस्कृति का चित्रण मिलता है। विवाह से धन कमाने की इच्छा पतनोन्मुख सामाजिकता का प्रमाण है। नृशंस मानवीयता को व्यक्त करते हुए सुदीप कहते है- " मैं तुम्हें मकान नहीं दे सकूँगा। मोदी तुम्हें सब कुछ दे सकता है। केवल हाँ करने की देर है। हम दोनों क्यों यातना भोगें ... मोदी किसी भी समय मर सकता है .... इस बात को जानने के बाद भी शादी करना चाहता है.... तुम्हारे सामने प्रस्ताव इसलिए रखा है कि तुम गरीब हो। .... साज़िश को साजिश से ही मार देनी होगी।"[1]

छाया और मोदी के विवाह के बाद सुदीप की सारी आशायें टूट जाती है क्योंकि वह पूर्णतः मोदी पर निर्भर रहना चाहती है। पति की देखभाल को अपना मकसद मानती है। पत्नी की शीतल छाया में मोदी स्वास्थ्य होते रहे। यहाँ भारतीय पत्नी की आदर्शमय रूप छाया में उभर कर आता है।

---

[1],शंकर शेष : घरौंदा , पृ-46

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पारिवारिक जीवन में बहुआयामी परिवर्तन हुआ है । नये युग की परिस्थितियों तथा बदलते सामाजिक वातावरण ने घरेलू संबन्धों को प्रभावित किया । मोहभंग की मानसिकता, व्यक्तिवादी विचारधारा आदि ने समाज में कुप्रभाव डाला। कुसंस्कृति ने विकृतियों को जन्म दिया जिससे मानव जीवन निरंकुश बन जाता है। शिक्षित नवयुवक खोखले यथार्थ तथा झूठे अहं को महत्व देते है । इससे वास्तविकता से वे हमेशा दूर ही रहता है । नई पीढी जीवनानुभवों से विहीन है अतः मूल्यों के प्रति उनके मन में उपेक्षा का भाव है। लेकिन वहाँ आदर्श को सब कुछ मानेवाला एक ओर पीढी भी है, बुर्जुआ पीढी । विचारों के अंतर के वास्ते इन दोनों में संघर्ष का उपजना स्वाभाविक है। जो पारिवारिक जीवन को त्रासद बना देता है।

तीसरा अध्याय
महानगरीय जीवन और परिवार

ग्रामीण सभ्यता का विस्थापन और महानगरों का प्रादुर्भाव

भारत की आत्मा गाँवों में पाई जाती है । ग्रामीण जीवन की सादगी और सौन्दर्य भारतीय संस्कृति के गौरव है । हमारे देश में सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र ग्राम ही है और यहाँ सभ्यता का उदय ग्रामीण वातावरण में ही हुआ । ग्रामीण समाज लघु उद्योगों के जरिए आपसी सहयोग से रहते थे । ग्रामीण जिन्दगी के नींवाधार यही सहकारिता ही है । अंग्रेज़ी इतिहासकार अशरफ लिखते है कि "सहयोगिता को भारतीय ग्रामीण जीवन की सबसे महत्वपूर्ण खूबी माना है ।"[1]

अंग्रेजों के आगमन तक ग्रामीण जनता अपने जीवन बखूबी ढंग से निभाती थी तथा ग्रामीण समाज सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख था । उस ज़माने में वहाँ के लोग राज्य के निर्माण में अपनी भागीदारी देते हुए आत्मगौरव महसूस करते थे । "गाँव छोटे-छोटे गणतंत्र थे । उनकी अपनी आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाती थी । बाहरी दुनिया से उसका कोई संबन्ध नहीं था । एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलटफेर हुआ ; हिन्दू,पठान,सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगडे पर गाँव वैसे ही बने रहे ।"[2]

---

[1]अशरफ :लाईफ आन्ड कंडीशन आफ दि पीपुल आफ हिन्दुस्थान,पृ-167

[2]बच्चन सिंह :आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास , .पृ-29

कंपनी राज्य के शासन का परम उद्धेश्य भारत के परम वैभव को लूटना और यहाँ उनके मार्केट बनाना है । इसी लक्ष्य की आपूर्ति केलिए उन्होंने भारतीय कुटीर उद्योगों को कुचला दिया । उसके फलस्वरूप ग्राम की आर्थिक व्यवस्था टूटने लगी । बेरोज़गारी और आर्थिक विपन्नता जनता भोगने लगी । ऐसे समय लोर्ड कोणवालीस ने ज़मीनदारी प्रथा लागू की जिसने ग्रामीण जीवन को घिनौना बना दिया । "कार्नवालिस ने इस जडें और भी मज़बूत बना दी । जब कार्नवालिस भारत आया उस समय बंगाल, बिहार, उडीसा की दशा बहुत दयनीय थी । फिर भी उन्होंने यह कानून पास किया कि जिनके पास लगान बाकी है उनकी ज़मीनें नीलाम कर दी जाय और बडी बडी जागीरों के टुकडे करके उन्हें अलग अलग नीलाम किया जाय।"[1] सामाजिक परिवर्तन के पीछे यही अवधारणा है जो अब तक ज़मीन के मालिक थे उनसे ज़मीन छूट गई । ज़मीनदारी शोषण से देहाती जीवन दर्दनाक होते है । " जब भूमि व्यक्तिगत संपत्ती हो गयी और उत्पादन के वितरण का ढंग बदल गया तो पुरानी सामाजिक संबन्धों के स्थान पर नए सामाजिक संबन्ध बनने लगे । सामूहिक खेती नष्ट होने के कारण संबन्धों की रागात्मकता टूटने लगी । व्यक्ति के अपने अपने स्वार्थ हो गये । इसलिए अर्थ पर टिका हुआ स्वार्थ आत्मपरक हो गया । पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में घटिया स्वार्थ का जन्म

---

[1]सुन्दर लाल :भारत में अंग्रेजी राज्य (भाग-1),पृ-89-90

होता है और यांत्रिकता के कारण, जो पूँजिवाद का अलग चरण है, अकेलापन या एलिनेशन का।"[1]इस प्रकार भारतीय ग्रामीण जीवन धीरे-धीरे बदलाव की ओर मुडता गया । महानगरीय जीवन जनता के मन में विश्वास जगाता है । आर्थिक सुरक्षा और भौतिक विकास की आशा देते हैं । अपनी महत्वाकाँक्षा के ज़रिए जनता महानगरों की ओर प्रस्थान करते हैं । "औद्योगिक क्षेत्र में अत्यंत पिछडे हुए भारत में कुटीर व लघु उद्योगों की अवस्था भी चिंत्य थी । साथ ही बेकारी, स्वास्थ्य, निवास स्थान, बढती जनसंख्या, शिक्षा, पिछडे वर्ग विकलाँग आदि की समस्याएँ देश की प्रगति को चुनौती दे रही थी । अतः धैर्य एवं प्रबल पुरुषार्थ तथा वैज्ञानिक आधारों पर स्थित आयोजन द्वारा ही इन सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का हल किया जा सकता है ।"[2]

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नये-नये आविष्कारों का प्रादुर्भाव हुआ। भारत भी इसके प्रभाव से असंपृक्त नहीं था । देश में बडे-बडे उद्योगों का प्रारंभ हुआ। जहां इस तरह के उद्योगों का संस्थापन हुआ, वह स्थान उधर के वातावरण जल्दी-जल्दी विकास की ओर अग्रसर होने लगे । 1950 के बाद शिक्षा के कारण भारतीय नव युवक रोज़ी-रोटी की तलाश में गाँव छोडकर ऐसे उद्योगों के करीब आने लगे । परंपरा को

---

[1].बच्चन सिंह :आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास ,पृ-26

[2]रवीन्द्रनाथ मुखरजी : भारत में सामजिक कल्याण और सुरक्षा: पृ.13

स्वीकार करने वाले ग्रामाँचल से परंपरा भंजक महानगरों की ओर जनता के रवाने के पीछे इस तरह की मानसिकता भी है । जनता की अर्थ लोलुपता, धन का स्वामित्व आदि ने नगरीकरण की प्रक्रिया को तीव्रगति प्रदान की है । ग्रामीण समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया अत्यंत मंद थी । कुटुंब में बढती हुई जनसंख्या के कारण परिवार का बंटवारा होने लगा । इससे बेकारी, अर्थाभाव एवं नगर के प्रति आकर्षण के कारण अनेक लोग गाँव छोडकर नगर की ओर जाते थे ।

नगर जीवन के प्रारंभ से मानव आधुनिकता से जुडने लगे । नगरीय जीवन ने उसे नये जीवन-यथार्थ से परिचित कराया । नगरीय जीवन के संदर्भ में लूइस मंफॉर्ड ने लिखा है " नगर मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं से जनम लेता है । और अपनी अभिव्यक्ति की विधियों एवं पद्धतियों दोनों का विस्तार करते हैं । शहर में दूरवर्ती शक्तियाँ और प्रभाव स्थानीय शक्तियों और प्रभाओं से मिलकर एक हो जाते हैं । विरोध की अपेक्षा उनका सामंजस्य अधिक महत्वपूर्ण है ।"[1] इससे महानगरों में आबादी बढने लगी । इसके फलस्वरूप कुछ विशेष केंद्रों का अतिविकास हुआ । कलकत्ता और बम्बई जैसे शहर उद्योगों के अत्यधिक विकासित केंद्र हो गये और गाँवों से लोगों का पलायन इन शहरों की ओर होने लगा ।

---

[1]लूइस मंफॉर्ड: शहरों की संस्कृति: पृ.2

औद्योगिक सभ्यता के प्रतिष्ठापक नगर है । डिक्शनरि ऑफ सोशियॉलॉजि के अनुसार " मुख्यतः नगर में उद्योग, व्यवसाय और सांस्कृतिक गति विधियों का संकेन्द्रण होता है ।"[1]आबादी की वृद्धि और उद्योगों की बहुलता से नगरों का विस्तार हुआ । नगर महानगरों में तब्दील होने लगा । ग्रामीण परिवेश की अभावग्रस्त ज़िन्दगी ने जनता को नगरों की ओर आकर्षित किया है । इस प्रक्रिया को शहरीकरण या आधुनिकीकरण कहा जा सकता है । नगरीकरण से एक नई सभ्यता जन्म लेती है । उसमें हमारे भारतीय मूल्यों की अपेक्षा पश्चिमी आदर्शों को वरीयता है । जो सामाजिक और पारिवारिक सन्दर्भ में काफी महत्वपूर्ण है । महानगरीय जीवन ने पारिवारिक ढाँचे में परिवर्तन और परिवर्धन करके नयी अंतर्दृष्टि प्रदान की है । नगरीकरण के केंद्र बिन्दु मशीन, कृत्रिम ऊर्जा, एक विराट विश्व भावना आदि है जिसने महानगरीय मानसिकता के फैलाव को गति प्रदान की है । "भारतीय नगरों की प्रमुख समस्याएँ छोटे पैमाने पर लगभग वहीं है, जो यहाँ के महानगरों की है । अर्थात आवास, रोज़गार और अपराध नियंत्रण की समस्याएँ भावनात्मक स्तर पर नगर की मुख्य समस्या है । उसके साथ-साथ परंपरा में ताल-मेल बिठाना एक ओर समस्या है ।"[2]

---

[1]हैंरी प्रेट,फेयर चार्ल्स: डिक्शनरि ऑफ सोशियोलोजि:पृ.329

[2]डॉ.प्रेमकुमार : समकालीन हिन्दी उपन्यास: पृ.97

शहरीकरण आधुनिकता के प्रमाण है । नगरों के विस्तार और शहरीय जीवन प्रणाली इसके सबूत है । अतः शहरीकरण और अधुनिकीकरण दोनों एक-दूसरे से संबद्ध है । नगरीकरण एक प्रकार से आधुनिक संस्कृति का सभ्यता परक उपादान है । आधुनिक राष्ट्र की सज्ञा के अंतर्गत नगरीकरण की प्रमुख गणना होती है। आधुनिकीकरण के प्रभाव के कारण नगरों में भौतिक विकास उपलब्ध हुआ । वास्तव में नगरीय सभ्यता के नींवाधार तत्व मात्र भौतिक धरातल पर ही है । नगरीय सभ्यता के प्रभाव से व्यक्ति भौतिकतावादि होने लगे । व्यक्ति को अति सभ्य होने का दर्प और सुख-सुविधा भोगी होने की लालसा आदि नगरीयता का ही देन है। महानगरीय ज़िन्दगी बौद्धिक पृष्ठभूमि को आधार मानकर आगे चलती हैं । अर्थ को प्रभुता देनेवाली सभ्यता के ज़रिये मानव मूल्यों की ओर नकारात्मक द्रष्टी देना स्वाभाविक है । "व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं समनता की उपेक्षाकर भौतिक मूल्यांकनों में रुपया-पैसा ही सब कुछ समझा पाने लगा है ।"[1] मानवीय संवेदना के अभाव में महानगरीय परिवेश में पारिवारिक जीवन संघर्षपूर्ण बनता है । व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होने से पारिवारिक अवधारणा में शिथिलता, संबन्धों के साथ-साथ सच्चाई का अभाव, अतृप्त वासना की आपूर्ती का साधन खोजने वाले मानव महानगरीय परिवेश में पाया जाता है, जो

[1]विशाल भारत: नवंबर-1987:पृ.264

पारिवारिक जीवन के सर्वनाश के कारण के रूप में आते हैं । अतः हम कह सकते हैं कि महानगरीय परिवेश में पारिवारिक जीवन शिथिलता की ओर उन्मुख है । इसका मुख्य कारण महानगरीय यांत्रिकता ही है ।

महानगरीय जीवन की बहुआयामी समस्याएँ

आज़ादोत्तर भारतीय महानगरीय जीवन बहुआयामी समस्याओं से संपन्न है । मशीनों के नगर में आदमी खुद मशीन बन गया है । इस तरह की कृत्रिमता और यांत्रिकता ने महानगरीय जीवन को और भी कठोर बना दिया है । बढती आबादी और उससे उत्पन्न विभिन्न समस्याओं से महानगरीय वातावरण कलुषित है । ऐसे जीवन की खूबी यह है कि व्यक्ति यहाँ अपने आपको नगण्य महसूस करता है । यह लखुता बोध उसके सामाजिक पारिवारिक जीवन में टूटन उपस्थित होने का मूल कारण बन गया । बदलती परिस्थिति में आर्थिक एवं सामाजिक विषमता ने उनके दुःख को और भी गहरा बना दिया है । “महानगरों में आकर बसे लोगों की अगलीपीढी ने एक एक कमरे की सिर छुपाने की जगह में आँखें खोली और वे शैशव के नन्हें पगों से ही बसों, रेल गाडियों और ट्रामों आदि की ठेलम पे और धक्का-मुक्की में आगे बढती हैं । मकान, यातायात की समस्या ही नहीं खाने की विभिन्न सामग्रियों को जुडाने की रेशन की लंबी कतारें, राजनैतिक दलों तथा राजनेताओं के अपने स्वार्थों

की पूर्ति निमित्त आये दिन होनेवालेहडतालों,जुलूस,बन्द आदि ने महानगरीय जीवन को त्रासद दायक वातावरण प्रदान किया । इसके साथ ही बढती जनसंख्या और औद्योगिक उन्नति के कारण महानगरीय जीवन में प्रदूषण और पर्यावरण के संकट भी बहुत भीषण रूप में बढे हैं। चुनाव, वोट और कुरसी की राजनीति में फसी भ्रष्ट शासन व्यवस्था सामान्य जन के दुःख-तकलीफों को कम करने में सहायक नहीं हो सकी ।"[1] पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न औद्योगीकरण ने गाँव को तोडकर शहर बना दिया है।

रोज़ी-रोटी की समस्या

रोज़ी-रोटी की खोजों में देश के विभिन्न क्षेत्रों से नवयुवक महानगरों में प्रति दिन आते हैं । ग्रामाँचल में शिक्षित युवा को नौकरी मिलने की संभावना नहीं है। अतः आज वे अच्छी नौकरी ढूँढते हुए शहर आ जाते हैं । बडी बडी इच्छाओं के साथ नगर आकर रहते थे लेकिन चालाकी ज़िन्दगी से मेल खाने पर उनके जीवन समस्याग्रस्त होते हैं । महानगरीय ज़िन्दगी में गरीब और भी गरीब बन जते हैं।

बढती आबादी में नौकरी पाना आसान नहीं है । महानगरीय जीवन की भीड व्यक्ति की मानसिकता को बदलती हैं । व्यक्ति की

---

[1]डॉ.पुष्पपाल सिंह: समकालीन कहानी:सोच और समय:पृ.86

अस्मिता के संदर्भ में भीड एक आतंक के रूप में मौजूद रहती है । भीड अव्यवस्था का प्रतीक है । इसमें पडकर व्यक्ति अजनबीपन या अकेलापन का शिकार होने लगता है । डॉ. नरेन्द्र मोहन कहते हैं - "भारतीय व्यक्ति भीड में फालतू होने के बोध को तीव्रता के साथ महसूस कर रहा है ।"[1] भीड व्यक्ति के अस्तित्व को खतरे में डालते हैं उससे अस्मिता की पहचान तथा अकेलेपन जैसी आधुनिक समस्याओं से मानव परिचित हुआ, जिसके वास्ते मानव के पारिवारिक संबन्ध ओर भी उलझन में पड गया । वैयक्तिक जीवन की त्रासदियों का प्रभाव पारिवारिक जीवन में पडना सहज है । अतः महानगरीय भीड तथा रोज़ी-रोटी की तलाश, दोनों ने मिलकर पारिवारिक जीवन के महत्व को विनष्ट किया तथा वैयक्तिकता को प्रमुखता दी । परिवेश से उलझकर मानव जीवन और भी संत्रास पूर्ण होने लगे।नैतिक भ्रष्टता, गन्दी बस्तियाँ, अस्वास्थ्यप्रद जल-वायु, शिक्षा आदि के अनेक प्रश्न हल के लिये मुख फाडे खडे हैं । नगरों में अर्थोपार्जन के अगणित साधन, ऊँचा जीवन स्तर एवं विलासिता के कारण स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता हुई । इससे वे परिवार का विरोध करने लगे । उनका जीवन आत्मरत, व्यक्तिवादि, स्वार्थी एवं मशीन सा गतिशील होने से वे अपने पडोसी से भी अपरिचित रहते हैं । सहशिक्षा तथा स्त्री-पुरुष के साथ-साथ काम करने के कारण प्रेम व अंतर्जातीय विवाह का

---

[1]डॉ. नरेन्द्र मोहन: आधुनिक हिन्दी उपन्यास: पपृ.641

प्रचलन अधिक था । रोमेंटिक विवाह का अंत हमेशा विवाह-विच्छेद में ही होता था ।

महानगरीय सन्दर्भ में परिवार

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में विलक्षणता लाने में महानगरों की बहुत बडी भूमिका है । यंत्र सभ्यता जन्य यांत्रिक जीवन में मानवीय संबन्धों को अनदेखा करते हैं । इस जीवन यात्रा में मानव अपना परिवेशजन्य भयानक त्रासदी के मुताबिक अलगाव बोध और परायापन महसूस करते हैं जो उसके पारिवारिक जीवन को बेचैन करते हैं । इस संदर्भ से मुक्ति पाना नामुमकिन है । महानगर की व्यस्त ज़िन्दगी में एक दूसरे से बात न कर सकते, एक दूसरे के साथ तादात्म्य न होने का अलगाव वह सह नहीं पाता । ऐसे परिवेश में मानवीय संबन्धों में एक प्रकार का खोखलापन मौजूद रहता है ।

औद्योगीकरण के फलस्वरूप आवास व्यवस्था में कमी महसूस होती है । गृहों का निर्माण नहीं हो पाता । परिणाम स्वरूप गन्दी बस्तियों का निर्माण होता है। इस गंदगी में रहने से मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का नष्ट हो जाना स्वभाविक है । ऐसी गलियों में स्त्रियों की शील रक्षा असंभव रह जाती है । यहाँ स्त्री पुरुष को एकाकी रूप में भी जीवन व्यतीत करना पडता है तो वह अनैतिक नहीं कहा जा

सकता । मशीनों के बीच रहते हुए स्वयं मशीन बनना सहज ही है । इस प्रकार नगर महानगर मानव के जीवनबोध कठोर और निर्मम बनाते हैं ।

महानगरों में भौतिकता का प्राधान्य है । सुविधाभोगी जनता को भौतिक रूप से संतुष्ट जीवन उपलब्ध है, लेकिन मानसिक अशांति का होना उनकी विवशता ही है । मनोरंजन के साधनों के बिकाऊपन के कारण यौन अपराध और आर्थिक अपराध बढने लगे । क्लबों में स्त्रियों की भागीदारी से सामाजिक संपर्क में मूल्यसंबन्धी अवधारणा बदलती रहती हैं । इसकी वजह परिवारिक विघटन और टूटन को तेज़ रफ्तार में बढ रही है ।

महानगरीय माहौल में परिवार में एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा होता है । आपसी सहयोग के अभाव से मानव जीवन त्रासक बन जाते हैं । व्यवसाय की खोज और अर्थ ग्रहण करने की विवशता के कारण मनुष्य को परिवार छोडना पडता है । महानगरीय प्रभाव से उनके मन में स्वतंत्रता आ जाती है जो पारिवारिक ढाँचे को तोडकर बाहर आने की प्रेरणा देती हैं । अतः वह परंपरागत पारिवारिक अवधारणा को अस्वीकार करता है ।

भारतीय विवाह विधा के अनुसार पत्नी को अपना पूरा व्यक्तित्व पति के व्यक्तित्व में विलीन कर देना पडता है, जो महानगरीय सभ्यता

में असंभव है । व्यक्तिवादी मानव अपने सुख को वरीयता देने से समझौते को तैयार नहीं है । विवाह के संदर्भ में फिरोज़ एहमेद ने कहा है- "बढती हुई महंगाई, आवाज़ की समस्या, उच्च शिक्षा का प्रभाव, अपने अधिकारों की पहचान, आधुनिकता का बोध और बदलते हुए सामाजिक मूल्यों ने बंबई में लडकियों की एक बडी संख्या को घरेलू चहार दीवारों से दफ्तरों और बाहर की दुनिया में पहुंचा दिया है । आज़ादी के बाद महत्वाकाँक्षी लडकियों की एक समूची पीढी ने जन्म लिया है । लडकियों की यह पीढी महानगरीय सभ्यता के तगाजे को देखते हुए केवल परंपरावादी पति ही नहीं बल्कि पति के रूप में मैत्रिक, सलाहकार, अभिभावक और सहनशील साथी चाहिये विशेषकर मध्यवर्ग की लडकियाँ संपन्न, महत्वाकाँक्षी,उदार, सुरक्षित और सामाजिक रुतबे वाले लडके चाहते हैं । इतने सारे गुण किसी एक लडके में कैसे हो सकते हैं तो क्या लडकियों की शादी एक समस्या नहीं है।"[1]

महानगरीय समाज में विवाह और दाँपत्य की परंपरागत धारणा लुप्त हो चुकी है । आज विवाह यौन तृप्ति के लिये होता है । तो अतृप्ति से जल्दी ही टूट जाते हैं । शिक्षित समाज में प्रेम विवाह का प्रचलन है । परंपरा को तोडने को कभी कभी अंतर्जातीय प्रेम विवाह भी होते हैं ।

---

[1]धर्मयुग: अंक-30,नवंबर 1975

आज भारतीय युवकों में एक प्रवृत्ति जाग रही है कि वे विवाह संस्था को नकारने लगे। वे समझ रहे हैं कि महानगरी जीवन संघर्षपूर्ण है। जीवन संघर्ष की बोझ से युवा पीढी पलायनवादी बन जाती हैं। काम तृप्ति के साधन महा नगरों में पाना मुश्किल नहीं है। अतः आज बहुत ऐसे काम संबन्ध उभर रहे हैं जो सामाजिक रूप से मान्य नहीं होते और विवाह उनका उद्देश्य नहीं होता।

महानगरीय यांत्रिकता में टूटते परिवार

महानगरीय सभ्यता में वैयक्तिक अनुभूतियों को अनदेखा करते हैं। उस व्यवस्था में मानव को लगता है कि जो कुछ है, वह सभी पराया है। अपनत्वहीन महानगरों में उस परिवेश की बेरूखी से लडना पडता है। हर आदमी या औरत लापर्वाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प में डूबा हुआ गुज़रता है। महानगर किसी भी व्यक्ति की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी नहीं लेता। कारण यहाँ आदमी को आदमी न मानकर एक चीज़ मानने की प्रवृत्ति है। इस अलगाव को पैदा करने का मुख्य कारण औद्योगीकरण और नौकरशाही है। इसलिए यहाँ व्यक्तियों के साथ मशीन सा व्यवहार किया जाता है तथा मानवीय भावनाएँ समाप्त हो जाती है। शहर का मनुष्य मशीन हो गया है। आज के मनुष्य अपनी इच्छाओं के सहारे नहीं 'घडी' के ठोकों पर चलना है। व्यस्तता मानव

को सुखी और संपन्न बना सकती है लेकिन इस के साथ तनाव भी जुडा हुआ है। "मशीनों के नगर में रहते वह खुद भी मशीन हो जाता है। इस प्रकार कृत्रिमता और यांत्रिकता नगर-महानगर जीवन के बोध को कठोर और निर्मम बनाते हैं।"[1]

महानगरीय जीवन की आधुनिकता से प्रभावित उलझे, जटिल संबन्धों के भीतर टूटती पनाह खोजती बेपनाह ज़िन्दगी का जितना यथार्थ अंकन 'द्रौपदी' में हुआ वह महत्वपूर्ण है। सुरेन्द्र वर्मा का द्रौपदी महानगरीय खोखली यांत्रिक सभ्यता की पृष्ठभूमि में लिखा गया नाटक है। आधुनिक जीवन के अर्थहीन संबन्धों की ओर प्रकाश डालना वर्मा का उद्देश्य था –"आधुनिक यांत्रिक जीवन के प्रभावांतर्गत मानव के खण्डित व्यक्तित्व, टूटते पारिवारिक परिवेश, जीवनव्यापी घुटन और तनाव पूर्ण संबन्धों को चित्रित करने वाली नाट्य कृति है द्रौपदी।"[2] इस नाटक के मुख्य पात्र मनमोहन और सुरेखा है ,जो पति-पत्नी है। अनित और अलका इनकी संतानें है। अलग अलग व्यक्तित्व के प्रतीक के रूप में मनमोहन आते हैं, जो अपने व्यवहार के अनुरूप मुखौटे अपनाते हैं। पीले मुखौटे में कार्यकुशलता है तो लाल रागात्मकता प्रतीक है तो काला तामसिक वृत्तियों का प्रतीक है। मध्यवर्गीय परिवार के प्रतिनिधित्व

---

[1]डॉ.प्रेमकुमार:समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण :पृ.98

[2]डॉ.शेखर शर्मा: समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक:पृ.537

करते हुए इन्हों ने महानगरीय जीवन की चकाचौन्ध तथा मूल्यहंता परिस्थितियों की ओर प्रकाश डाला है ।

महानगरीय बेबसी के माहौल में मनमोहन अपनी पत्नी से ऊब जाता है। अपनी तृप्ति के लिए वह दूसरी स्त्री के साथ संबन्ध स्थापित करता है । बदलते हुए सामाजिक यथार्थका चित्रण यहाँ मिलता है । सुरेख अपने शब्दों से उस यांत्रिकता का चित्रण करती है । "जैसे कभी वह दफ्तर में डूबा रहता है, और कभी वह घर में । कभी ऊपर से छूते ही उसका मन भर जाता है और कभी वह एक एक बोटी नोच डालता है । और कभी उसके बगल से दूसरी औरत की बू आती है।"[1]दाँपत्य जीवन में ठण्डेपन की मौजूदगी से आपसी रिश्ता शिथिल हो रहे हैं।

आधुनिक आदमी व्यस्तता में ही जी रहा है । शहरीकरण ने उसकी व्यस्तता को ओर भी बढावा दिया है । दफ्तर तथा घर के कामों से व्यस्त मानव बेचैन हो जाता है । इसी व्यस्तता महानगरीय जीवन के अभिशाप माना जाता है । मनमोहन इस व्यस्तता में जीता है । द्रौपदी के मनमोहन इसी विवशता के शिकार है। " नील की हाज़िरी के बारे में कॉलेज को टेलेफोण । फ़ोण का बिल अदा करने पर भी काटने का नॉटीस आ गया है । उसके लिए जाँच पडताल । बीमे का प्रीमियाम ।

---

[1]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ.128

कार की बैटरी"।[1] अपने दायित्वों के बीच दम घुटकर तरसता है मनमोहन । इससे उनके मानवीय संबन्धों में संघर्ष एवं जडता उपजना अस्वाभाविक नहीं है । "नगर और महानगर की भाग दौड में कार्यालय में काम करने वाले की एक निर्मम यथार्थ यह है कि वह अपने परिवार के लिये अजनबी होता रहता है ।"[2]

व्यक्ति बडे घर में भी यांत्रिकता के मुताबिक अकेलापन महसूस करता है । अपने घर में भी अकेलापन से पीडित हो जाने से उनका जीवन त्रासद हो सकता है । द्रौपदी की सुरेखा पति-बच्चे के बीच भी अकेली महसूस करती है । यहाँ आधुनिक पारिवारिक जीवन की एक ओर विभीषिका है जो घर में भी अपने बाल-बच्चे की सोच कर रही थी, बच्चे जब बडे हो जाने से उनके माँ से अलग हो जाना स्वाभाविक है । ऐसे संदर्भ में माँ बाप अकेले हो जाते हैं । घर में ही अकेले होने की त्रासदी भोगना महानगरीयता का परिणाम है -

"सुरेखा: क्यों ? कुछ झूठ कह रही हूँ ? बल्कि ऐसा भी नहीं होती । क्यों कि घर जितना भरा पूरा हो उतना ही अकेलापन महसूस करे आदमी।"[3]

---

[1]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 77

[2]डॉ.प्रेमकुमार:समकालीन हिन्दी उपन्यास : कथ्य विश्लेषण :पृ.92

[3]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. -78

महानगरीयता व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बना देता है । भौतिकता को प्रमुखता मिलने के कारण नगरीय सभ्यता सडनशील हो रही हैं । पारिवारिक जीवन में भाई –बहन का रिश्ता पुनीत मानता था । आपसी सहयोग और सौहार्द से एक दूसरे के बीच स्नेह उमडता रहता है । लेकिन महानगरीय मूल्य हीनता ने भाई बहन के पुनीत संबन्धों को भी कुचल डाला है । यहाँ अनिल और अलका दिशाहीन महानगरीय उपज बनकर सामने आते हैं । मूल्यहीन सभ्यता में उपजे होने से इनके आपसी संबन्धों में भी मूल्यहंता भाव पाया जाता है -

"अनिल: कहाँ जा रही हो?
(अलका कोई उत्तर नहीं देती)

अनिल: मैं ने पूछा कहाँ जा रही हो ?

अलका: (ठण्डे स्वर में) मैंने मना किया था । मत करो मुझसे बात ।

अनिल: शनिवार को तुम्हारी क्लास होती है ?

अलका: (नाराज़गी से) तुम्हें क्या मतलब होती है, कि नहीं होती ?

अनिल: कहाँ होती ?.....लाल किले के किसी सुंसान कोने में ? कुतुब में किसी झाड के पीछे या ओखला में किसी पेड के नीचे ?

अलका: चुप रहो ।.... सुअर, गधा, पाजी ।" [1]

---

[1]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 79

आज की दिशाहीन नई पीढी की ओर संकेत देकर घिनौने जीवन का चित्रण करना नाटककार का मकसद है । यह भी नहीं कॉलेज में क्लास के नाम पर बॉय फ्रेंड के साथ घूमना, मज़ा मनाना खुशी पाना आज की ज़रूरत है । ऐसी सभ्यता ने मानव को सुख की ओर उन्मुख कर दिया । नैतिकता के सारे प्रतिमान को तोड दिया । इससे युवा पीढी हमेशा खतरे में पड जाती हैं । अतः द्रौपदी में खुलकर बताया गया है कि लडका –लडकी क्लास के नाम पर शारीरिक भूख मिटा रहे हैं । निरंकुश सामाजिक हैसियत की ओर इशारा करते हुए मूल्यहीनता को यों व्यक्त किया है-"ज़रा पर्स खोलकर देखो । रिट्ज़ के बॉक्स की दो टिकटें हैं, दोपहर के शो की ।....वहीं है इसकी क्लैस .... सोशियोलॉजि नहीं, सेक्सोलॉजि ....।"[1]

महानगरीयता ने माता-पिता के मन में भी बदलाव डाला है । क्षण भर मस्ती बनानेवाले समाज मेंनैतिकता के सारे प्रतिमानों को नज़रन्दाज़ करने को आज के माँ-बाप तैयार हैं । ऐसी शहरीय विद्रूपता को रेखांकन करने में द्रौपदी सक्षम है । सुरेखा अपनी बेटी से कहती हैं- " जबर्दस्ती क्यों, राज़ी-खुश देती जा । उसे जो कुछ वो चाहता है । कहाँ

[1]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 81

तक ?"[1]महानगरीय निसंगता एवं मूल्यहंता सामाजिक सन्दर्भ में मानव जीवन घृणात्मक होता है । माता ही कुँवारी बेटी से जबरदस्ती संबन्ध स्थापन की ओर उकसाती है तो सभ्यता का नींवाधार कितना घिनौने हो जाता है । अपनी बेटी के प्रेम से परिचित होने से माँ यों कहती है – "लडका निहायत बेवकूफ है ....छह महीनों से सिर्फ ब्लाउज़ के बटनों तक पहूच सका ।"[2] बदलते पारिवारिक संबन्धों का पर्दाफाश करना नाटककार का मकसद है ।

युवा वर्ग दिशाहीन है । शराब और सेक्स में जीवन का अर्थ ढूँढता है । नगरीकरण के प्रभाव से अनिल भी अवैद्य सेक्स संबन्धों में जीवन यथार्थ को देखता है । उसकी विकृत मानसिकता को नाटककार ने यों चित्रित किया है । दौपदी में अनिल इसका शिकार है । उसके बारे में कहते है "अभी उसके कमरे में गया था मैं। सिगरेट के टुकडे, एक से एक गन्दी किताबें ओर तस्वीरें- सुना है, चरस और एल. एस. डी का भी शौक फर्माते हैं कभी कभी।"[3]

महानगरीयता ने मानव को संबन्धहीन बना दिया । जिस्म और शराब में वह शरण लेता है । ऐसी त्रासदी में पारिवारिक जीवन

---

[1]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 83
[2]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 83
[3]सुरेन्द्र वर्मा तीन नाटक पृ. 84

नारकीय बन जाता है। युवा पीढी भी अवैद्य सेक्स संबन्धों में भी आनन्द पाती है तो ऐसी पतनशीलता को सुरेन्द्र वर्मा ने शब्दबद्ध किया है। द्रौपती नाटक में नाटककार सुरेन्द्र वर्माने मिथकीयता के सन्दर्भ में आधुनिक जीवन में व्याप्त दबाव, अन्धे संघर्ष युवा वर्ग की स्वच्छन्दता, परिवार का विघटन जैसी समस्याओं को एक साथ पिरोया है। इस तरह देखा जाय तो द्रौपदी आधुनिक महानगरीय समाज व्यवस्था तथा भौतिकवादी पद्धती से प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। महानगरीय जीवन त्रासदी के विभिन्न आयाम द्रौपदी में अंतर्निहित है।

विसंगतियों से टूटते- बनते संबन्ध

बढती हुई आबादी और शहरीकरण से महानगरों में रहने का स्थान के अभाव महसूस होता है। सर छुपाने के संकट महानगरीय समाज की ज्वलंत समस्या है। इससे पारिवारिक संबन्धों में विघटन आ जाते हैं। 'घरौन्दा' नाटक में शंकर शेष ने इसी महानगरीय अभिशाप को प्रश्रय दिया है जो संपूर्ण मानवता को समाप्त करने में समर्थ है।

सुदीप और छाया घरौन्दा नाटक के मुख्य पात्र हैं। दोनों सह कर्मी भी हैं। सहयोगी जीवन से आपस में प्रेम उत्पन्न होता है। दोनों के संबन्धों से महानगरीय वातावरण की कठोरता व्यक्त होती है। घर के अभाव में स्त्री-पुरुष मिलन की कठिनाइयों को सुदीप व्यक्त करता है

"अब तुम्हें कैसे समझाऊँ छाया ! हम लोगों में एक आपसी समझौता है । जब कभी एक पार्टनर लडकी लाता है, दूसरे बाहर रहते हैं ।"[1]

आधुनिकता ने संबन्धों के बीच खाई डाल दी है । समसामयिक ज़माने में परिवार और व्यक्ति अलग-अलग होते हैं । व्यक्ति और आत्मकेन्द्रित होता है तो परिवार अर्थहीन हो जाता है । आपसी समझौते के अभाव में व्यक्ति जीवन दिशाहीन ही लगता है । सुदीप तथा छाया घर की बदलती हुई अवधारणा को स्पष्ट करते हैं -

"सुदीप: घर हो तो कोई इंतज़ार करें । कोई हो तो इंतज़ार करे । लेकिन अपना तो घर है ? इंतज़ार तो हो ही रहेगा ।

छाया: हमारे यहाँ न कोई किसी को विदा देते हैं और न कोई किसी का इंतज़ार ही करता ।"[2] शहरीकरण ने नये सामाजिक मूल्यों को जन्म दिया है । उसमें समाज की आधारभूत संस्था, परिवार को भी नगण्य मानकर अपनेपन की कोकूण में समेटनेवाले महानगरीय सभ्यता मानव को दुरूह बना देता है ।

प्रेम आज वासना जन्य होकर जिस्म केन्द्रित बन जाता है । उस पुनीत भावना आज कोरे काम में तबदील हो गया । शहरीय विसंगती को

---

[1]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.327

[2]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.325

ढोने वाले आदमी शारीरिक मिलन में ही मुक्ति देखते हैं । जीवन की उस त्रासदी को छाया व्यक्त करती है- "मतलब क्या है तुम्हारा ! कहना क्या चाहते हैं ? घर होने से पहले ही तुमसे ..... और दस-पन्द्रह दिनों में एकाध बार किसी सस्ते होटेल में .....किसी बगीचे की झाडियों में । नहीं सुदीप, इसकी में कल्पना भी नहीं कर सकती।"[1] पलायनवादी सामाजिक याथार्थ को शंकर शेष छाया और सुदीप के माध्यम से व्यक्त करते हैं । नैतिकता के सारे प्रतिमान उलट पडने से सामाजिक वातावरण कलुषित होता है । इस संदर्भ में डॉ.प्रमोदकुमार कहते हैं " परनारी और परपुरुष से बेहिचक और बिना किसी पापबोध से ग्रस्त हुए अस्थायी और स्थाई यौन संबन्धों की बहुलता को देखकर इस नतीजे पर पहूँचना है कि नगर जीवन में नैतिकता के पुराने प्रतिमान ध्वस्त हो रहे हैं । सतीत्व, पातिवृत और आत्मिक प्रेम जैसे मूल्यों को हिलाकर सैक्स का तूफान नगर और महानगर जीवन पर छा जाना चाहता है ।"[2] सुदीप पाप-पुण्य की व्याख्या देता है जो झूठे आदर्शों पर अधिष्ठित है । उनके अनुसार "पाप केवल एक धारणा है छाया । उसकी कभी भी कोई स्थाई व्याख्या नहीं है । सामर्थ्य और प्रसंग ही उसके

---

[1]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.327

[2]डॉ. प्रमोद कुमार : समकालीन हिन्दी उपन्यास : पृ:108

होने, न होने का फैसला करते हैं । तुम्हारे पापी होने न होने की बात का संबन्ध केवल मुझसे हैं ।"[1]

महानगरीयता असल में घिनौने यथार्थ है । उसने परिवार के सारे अस्तित्व को बर्बाद कर दिया । नरकीय जीवन सा आज व्यक्ति पारिवारिक जीवन को महसूस करता है । अपसंस्कृति ने परिवार को विस्थापित किया । शराब, खुले सैक्स उसकी जडें काट दी । परिवार की स्वच्छन्दता टूट जाने से व्यक्ति उसे सबसे घृणित नरक ही मानते हैं । इसी यांत्रिक सभ्यता की मुक्तभोगी है छाया । अपने जीवनानुभवों से घर को मानवीयता की क्रीडाभूमि नहीं बल्कि अमानवीयता का रंगमंच मानती है । निम्नवर्गीय जनता उस अभिशाप को पूर्णरूपेणा ढो रही है । अशिक्षा और अभाव ने बरबर बना लिया है । उस बर्बरता से त्रस्त है छाया "नहीं रहना है मुझे चाल में । तीन पीढियाँ कट गयी है उस सडी सी चाल में । उस भीड में। उस नरक में । तुम नहीं जानते, सुदीप जब कभी रात को नींद खुल जाती है तो मेरा शराबी भाई मेरी भाभी के साथ....उफ....वह छीना झपटी । रोंगटे खडे हो जाते हैं मेरे ।"[2]

---

[1]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.329

[2]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.327 -28

आज के औद्योगिक समाज में जीवन की बढती हुई जटिलता, प्राथमिक संबन्धों एवं पारिवारिक संस्थाओं का लोप तथा परंपरागत नैतिक मूल्यों में पतन, वेश्यावृत्ति की अहं भूमिका आदि महानगरीय जीवन की त्रासदी है । महानगरों में वेश्यावृत्ति एक व्यवसाय है जिसमें नारियाँ अपनी आजीविका केलिए अपना सौन्दर्य बेचती है । इसमें संबन्धों का नींवाधार धन है । यहाँ सामाजिक नियंत्रण के अभाव, नैतिक शिक्षा का अभाव, कार्यालयों में स्त्री-पुरुषों के साथ-साथ काम करना, अत्यधिक भीड, मनोरंजन का व्यापारीकरण, विवाह में आनेवाले विलंब आदि वेश्यावृत्ति को उकसाते हैं । घरौन्दे में सुदीप, चोपडा के द्वारा वेश्या संबन्ध की बात लेता है । स्त्री से सुख भोगना आदमी का लक्ष्य है । स्त्री-पुरुष संबन्धों के खोखलेपन को सुदीप व्यक्त करता है –" मेरा साथी जब भी लडकी लाता है, बियर माँगता है । व्हिस्की माँगता है । दो-तीन घण्टों में जितना शरीर सुख मिले ,लूटता है। वहाँ लडकी के साथ कोई भजन करने जाता, समझी ।"[1]

शहरीकरण झूठी सभ्यता को जन्म देता है । प्रतिक्रिया हीन मानव को नगर में दम घुटकर जीना पडता है । ऐसे अवमूल्यन को व्यक्त करती हुई छाया कहती है कि "भीड में गये उनके संस्कार ! अब तो

[1]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.328

संस्कारहीन होना ही अच्छा है । हमने क्या पा लिया ? किस काम के रहते हम ? न इधर के , न उधर के । सफेद कपडे पहने के बावजूद उस समाज के नियमों को हमें स्वीकार नहीं । मज़दूरों से कम तंख्वाह पाकर भी मज़दूर कहलाने से नाक-भौंह सिकोडने वाले हैं हम... त्रिशंकु की संतान हैं ...त्रिशंकू की संतान ।"[1]

व्यक्ति की अनबुझी महत्वाकाँक्षा उसके सर्वनाश की गति को तीव्र बना देती है । नगरीय समाज में मानव जीवन इस अन्धी महत्वाकाँक्षा से भरपूर है । सुदीप धन और वैभव की लालच से अपनी प्रेयसी छाया से जबरदस्ती मालिक मोदी के साथ शादी करवाता है । उसका विचार था कि जल्दी ही मोदी की मृत्यु हो जाय तो धन और वैभव उसके हाथ में आयेगा । अपने प्रेम को इस्तेमाल कर के भी धन कमाना उनका मकसद है । छाया विवाहोपरांत जीवन में मोदी का सहयोग देती है । अपने प्रेम को मिटाकर, वृद्ध मोदी के साथ जीने का निर्णय वह लेती है, वह महत्वपूर्ण है । इस तरह विवाह भी महानगरीय वैभव में स्वार्थपूर्ण है ।

आधुनिक महानगरीय मानव दिशाहीन विसंगति भोग रहे हैं। अनैतिकता को प्रश्रय और श्रेयकर मानकर समाज परंपरा का उल्लंखन करता रहता है । इस संदर्भ में 'घरौन्दा' नाटक महत्वपूर्ण है ।

---

[1]सं. डॉ.विनय: शंकर्शेष रचनावली: पृ.328

अस्तित्वहीन जीवन की गाथा को प्रामाणिक बना देने में नाटककार ने सफ़लता पायी है । वह प्राचीन मूल्यों की सर्वथा उपेक्षा करते हुए नये मूल्यों की खोज में भटक रहा है । मध्यवर्गीय अभावग्रस्त जीवन में व्यक्ति का ऐसा होना स्वाभाविक है ।

विकृतियों को उकसाती यांत्रिक सभ्यता

महानगरीय जीवन के आधारभूत तत्व मशीनीकरण है । मानवीय आविष्कारों की प्रचुरता तथा प्रमुखता तो वास्तव में शहरीय वातावरण में ही उपस्थित होती हैं हमीदुल्ला ने इस सन्दर्भ में अनेक नाटकों का सृजन किये हैं उन्हों ने महानगरीय विवशता का चित्रण किया है ।'उलझी आकृतियाँ' इस तरह महत्वपूर्ण है । आधुनिक जीवन व्यस्तता को व्यक्त करना नाटककार का मकसद है। महंगाई महानगरीय जीवन की त्रासदी है । महंगाई पर वे कहते हैं - "हाँ महंगाई के बारे में सोचा जा सकता है । महंगाई बहुत बढ गई है ना ? और साहब महंगाई ही क्यों ? मशीन.....जी हाँ मशीन ! आज का इनसान मशीन ही तो बन गया है । आज इनसान के मुकाबले मेंआकर खडा हो जाय।"[1] ऐसे भावनाहीन, रसहीन, आत्महीन जीवन की प्रस्तुति करना नाटककार का मकसद है । भावनाहीन मानव यांत्रिक बन जाता है । मानव और मशीन दोनों के

---

[1]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.8

दिल नहीं उसके स्थान में लोहा ही है । यही आज की ज्वलंत समस्या है । "हाँ मशीनी मानव के दिल को दिल कहा जा सकता है। लेकिन वह इंसानी दिल की तरह धडकता नहीं है । जैसे किसी खूबसूरत फूल या किसी सुन्दर चीज़ को देखकर एक सेंसेशन होते हैं न , वह मशीनी मानव में नहीं होता ।"[1]

यहाँ व्यक्ति अपने आप को नगण्य एवं बौना महसूस करता है । अपनी लघुता बोध से मानव कछुए की तरह अपने में समेट रहता है । उस अपाहिज सभ्यता में व्यक्ति अपनी पत्नी को भी भूल जाता है – "पत्नी ? अरे याद आया । तुम लिली बोल रही हो, मेरी पत्नी ,मैं समझा कस्टमर है । माफ करना लिली डार्लिंग । काम इतना ज़्यादा है और काम की रफ्तार में इतनी तेज़ हो गयी है कि पहचान करना मुश्किल है ।"[2] मशीन के साथ जुडने से मानव में मशीनी रूख आ जाता है । पारिवारिक संबन्धों में भी वह मशीनी मानसिकता विघटन पैदा करती है । अतः पत्नी लिली नाराज़ होकर कहती है- "तुम तो मशीनी मानव बनाते बनाते खुद एक मशीनी मानव बन गये हो।"[3]

---

[1]हमीदुल्ला:उलझी आकृतियाँ:पृ.10

[2]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.13

[3]वहीं -13

आधुनिक जीवन में व्यक्ति उपभोक्ता बनता है । परंपरा प्रचलित मान्यताओं का खण्डन तथा नवीनतम विचारों के प्रतिस्थापन शहरीय संस्कृति के अभिन्न अंग है । अब तक मानव ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखते थे । औद्योगीकरण की महज उत्पन्न शहरीकरण ने व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों को विनष्ट किया । मानव ईश्वर की मौत की उद्घोषणा करते रहते हैं , मौज इकट्ठे करते आगे जाते हैं । धार्मिक संबन्ध में हमीदुल्ला कहते हैं- " धर्म-वर्म की बातें छोडो, लिली । ज़माना इतनी तेज़ी से बदल रहा है कि आनेवाले साठ-सत्तर सालों में धर्म नाम की कोई चीज़ रहेगा भी, इसमें मुझे शक है ।"[1] इससे अस्तित्व संकट की समस्या आती है । "मशीनीकरण बढ जाने से मानव के अस्तित्व को कोई खतरा पैदा नहीं हुआ ? हो भी सकता है; और नहीं भी । मामला कि डिबेटल है । यह सोचने की बात है । लेकिन एक बात है । इस आपाधापी, धक्क-मुक्की, शोर, शराबे, राष्ट्रीयकरण, मानवीयकरण, कुम्भीकरण के दौर में आज का आदमी तो अपना अस्तित्व तलाश कर रहा है । यानी खुद के होने की खोज ।"[2]

शहरीय जीवन में पारिवारिक संबन्धों की टूटन साधारण सी बात है । व्यक्ति अपने खोखलेपन का प्रदर्शन तो करता है । लेकिन

---

[1]हमीदुल्ला:उलझी आकृतियाँ:पृ.16

[2]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.22

अंदरूनी तौर पर वह निरर्थक है । टूटते हुए परिवार को देखकर वह त्रस्त होता है –"मैं टूट रहा हूँ लिलि । क्षण-क्षण संपूर्णता भोग रहा हूँ, उतना ही भीतर खालीपन बढता जा रहा है । आदमी भीतर ही भीतर टूटता जा रहा है और लिली मैं खुदा नहीं हो पा रहा हूँ । लिली तुम मुझसे इतनी दूर क्यों चली गयी हो ? आखिर तुम्हारे –हमारे बीच में ऐसा क्या है ? जो हमें एक दूसरे से दूर किये हुए हैं ।"[1]

आर्थिक विपन्नता महानगरीयता का दूसरा अभिशाप है । मध्यवर्गीय एवं निम्न मध्यवर्गीय जीवन अर्थाभाव से ध्वस्त होते हैं । खोखले प्रदर्शन और वैभव को दिखाने की सभ्यता के प्रभाव से इनका अभाव ओर भी जटिल हो जाना स्वाभाविक है । मध्यवर्गीय कर्मचारी वर्ग, पारिवारिक जीवन में जो आर्थिक तंगी भोगते है उसे यों व्यक्त किया गया है –"भई कुछ न कुछ इंतज़ाम तो तुम्हें करना ही होगा । यह कम्बख्त बिजली और पानी के बिल पन्द्रह तारीख के बाद ही आते हैं । पन्द्रह तारीख तक तो घर में कानी कौडी भी नहीं बचते"।[2]आभिजात वर्ग तो ऐश की ज़िन्दगी गुज़ारते हैं । वैभव-प्रदर्शन उनकी ज़रूरत है । उन्होंने सरकार की टैक्स बचाने की तरकीब अपनाए हैं । उच्च वर्गीय

---

[1]हमीदुल्ला:उलझी आकृतियाँ:पृ.44

[2]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.143

समाज की धनलोलुपता और उस वर्ग की समस्याओं को हमीदुल्लाह ने अपने नाटक में व्यक्त किया है। "बडे अफ्सरों का और किसका। और हम लोग, जिनका बँधा वेतन है, हमेशा की तरह पिसते रहेंगे। आजकल की लडती कीमतों पर काबू पाना अब किसके बूते की बात नहीं रहीं, रामदीन। एक तरफ तो लोग इनकं-टैक्स बचाने के लिये तीन-चालीस लाखों की बिल्डिंगें और अस्पताल बनवाकर जनता की वाह-वाही लूटते हैं, और दूसरी तरफ हम हैं, जिन्हें दो वक्त की रोटी भी आसानी से नहीं मिल पाती।"[1]

हमीदुल्ला अपने नाटक 'उलझी आकृतियाँ' में जिस पारिवरिक अवधारणा का प्रतिष्ठापन करता है, वह तो समसामयिक माहौल में महत्वपूर्ण तथा महानगरीय प्रभाव को समेटनेवाला भी है। "नहीं, क्योंकि परिवार से आदमी बँध पाता है....। जो बँध जाता है वह कभी आगे नहीं बढता। वहीं पडा-पडा सडता रहा है ....तुम्हारी जैसी मामूली बुद्धि ,लेकिन अच्छी सूरत की औरत के लिये यहीं रास्ता है। मत भूलो कि बीसवीं शदाब्दी में सामाजिक प्रतिष्ठा सिर्फ पैसे से मिलती है।"[2]

---

[1]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.144

[2]हमीदुल्ला :उलझी आकृतियाँ:पृ.217

महानगरीय मूल्यहंता समाज और परिवार

औद्योगीकरण ने समाज में बहुआयामी परिवर्तन उपस्थित किया। व्यक्ति कीस्वतंत्रता की चाह तथा परंपरा के प्रति प्रतिशोध अंतर्संघर्ष को जन्म देते हैं। परम्परा भंजक समाज ने संबन्धों को तोड दिया। अपने सुख की खोज में रवाने होनेवाले आत्मकेन्द्रित व्यक्ति ने सामाजिक सन्दर्भ में समस्याओं को पैदा किया। आज पारिवारिक विघटन का अर्थ पति-पत्नी के संबन्धों का टूटन नहीं बल्कि परिवार के सभी सदस्यों के बीच पारस्परिक संबन्धों के बिखराव से है। "सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संक्रमण व्यक्ति की चेतना को बडी तेज़ी से प्रभावित करते हैं, सोचने की तरीके पर प्रहार करते हैं इससे उसका नया दृष्टिकोण बनना शुरू होता है।"[1]

नगरीय सभ्यता में तकनीकी के द्रुत विकास से हर कहीं विकास हुआ है। विकास के प्रति अन्ध-मोह से समाज कलुषित होता है। इससे पारिवारिक जीवन के संबन्धों में बहुत बडा परिवर्तन आ गये। संबन्धों में आये हुए बदलाव, आत्मीयता, प्रेम जैसे आधारभूत तत्वों की ओर उपेक्षा की स्थिति पैदा की है। पारिवारिक संबन्धों में त्याग के स्थान पर स्वार्थ एवं काम को प्रबलता मिली। "आधुनिकीकरण, नगरीकरण

---

[1]डॉ.धनंजय वर्मा: प्रस्ताव :मार्च-1984:पृ.170

और औद्योगीकरण मात्र परिवार के आपसी संबन्धों में ही परिवर्तन नहीं लाये, बल्कि परिवर्तन समाज के सभी सदस्यों के जीवन में प्रतिबिंबित हुआ । किंतु इसका तीव्रतम प्रभाव पारिवारिक संबन्धों पर ही सदा लक्षित होते हैं।"[1] सामाजिक भ्रष्टाचारिता और असंतुलन पारिवारिक बदलाव के मूल में हैं । सरकारी तौर पर व्याप्त लूट-खसौट, रिश्वतखोरी, अपनेपन, भाई-भतीजा वाद ने मानव के अस्तित्व को उखाड दिये । ऐसी स्थिति ने पारिवारिक जीवन को विनाश की ओर धकेल दिया है ।

आधुनिक पारिवारिक जीवन में व्याप्त अंतर्विद्रोह तथा बेबसी को तीव्रता के साथ मंच में लाने में रमेश बक्षी सफल हुआ है । उनके नाटक 'तीसरा हाथी' और 'वामाचार' इस का सबूत है । मूल्यहीन समाज में बरकरार रखने वाले पारिवारिक जीवन कितना दर्दनाक एवं अर्थहीन होता है । मुरारी लाल के पारिवारिक विस्थापन तीसरा हाथी का मुख्य विषय है । संबन्धों में आये हुए बदलाव को व्यक्त करना नाट्य धर्म है । स्वतंत्रता की चाह से अपने घर की परंपरागत अनुशासन बेटे को जेल की याद दिलाता है – "इस घर में रहते हुए जैसे, घर में नहीं कैद में हो । मैं बाथरूम में सिगरेट पीते-पीते थक गया हूँ ।"[2] पारिवारिक अनुशासन से असंतुष्ट महानगरीय सोच यहाँ व्यक्त हुआ है । इस स्वतंत्रता पर

---

[1]डॉ.ज्ञानवती अरोडा: समकालीन हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक संबन्ध :पृ.109

[2]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.14

आनेवाली बाधा का विरोध करना युवा पीढी की खासियत है । अपने पिता की बातों से असंतुष्ट बेटी जो विद्रोह करती है, वह महानगरीयता का सही पहचान दिलाती है । संबन्धों में औपचारिकता से एँठन होने वाली बेटी विभा कहती हैं- "पिता न हो जैसे दारोगा हो । वहाँ मत बैठो धूप लग जाएगी, छत पर मत जाओ, भीग जाओगी, खिडकी से बाहर मत झाँक, कोई देख लेगा । पापा कभी यहाँ होते और मैं कपडे खोजते यहाँ आ जाते, बाप रे खा जाते मुझे, हर बार मुझे यह लगता है कि जैसे मैं लडकी नहीं कच्चे आम की फाँक हूँ।"[1]

आधुनिक नगरीय सभ्यता ने पारिवारिक प्रेम को त्रास बना डाला है । बच्चे और बाप के बीच दूरियाँ इतनी बढ गयी है कि एक-दूसरे से बेमेल होते हैं । मूल्यहंता परिवेश में मानव अपने बाप का भी मृत्यु की कामना करते हैं तो सभ्यता कितनी भयावह स्थिति में है ? मानव-मानव के बीच वही बरबरता कायम रही है जो पारिवारिक अस्तित्व को उखेड डालती हैं । भारतीय सभ्यता में बाप-बेटी के संबन्ध कितना पुनीत होते हैं, लेकिन महानगरीय अभिशाप में बेटी बिभा सोचती है – "मैं एकदम बॉर हो गयी हूँ । छह महीने से यह चल रहा है कि पापा अपने फालिज के लिए बिस्तर पडे हैं और हर दिन एक बार गंगाजली

---

[1]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.17

और गीता उनके सिरहाने रख जाती है। हर दिन लगता है आज आखिरी दिन है, लेकिन इतनी लंबी आयुरेखा लेकर आये हैं कि मुझे लगता है, उनसे पहले तो मैं मर जाऊँगी।"[1]

खोखले आदर्श मानव को निरर्थक बना देता है। वैज्ञानिक प्रगति और बौद्धिकता मानव को नया जीवनदर्शन प्रदान करते हैं। कीर्ति के भूखी मानव सारी बातों में अपने ही महत्व देखने लगता है। यश की लालच में उसे अमानवीय बना देते हैं। अतः वह सोचता है - "पति के लिए मर जाय तो उसे सती कहते हैं, वतन के लिए कोई मर जाय तो उसे शहीद कहते हैं। कोई विशेषण जो बाप के लिए त्याग करने या घुट-घुटकर मरने वाली संतान के लिये नहीं जा सके।"[2] महानगरीय बोध मानवीय संवेदना को खत्म करते हैं। स्वार्थी समाज घोर आत्मकेंद्रित एवं अपनेपन से पूर्ण रहता है उपभोगतावादी विचारधारा पारिवारिक जीवन में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। अपने पिता की मृत्यु का इंतज़ार करने वाली बेटी इतनी निरंकुशता से कहती हैं "मुझे कुछ कहना है भैया। मैं चाहती हूँ कि पापा के मर जाने के बाद उनका कमरा मुझे दे दिया जाय। मैं उसे अपनी स्टडी रूम बनाऊँगी।"[3]

---

[1]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.28

[2]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.28

[3]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.38

भारतीय सनातन धर्म में मृत्यु तथा अंत्येष्टि को महत्वपूर्ण हिस्सा मानते हैं। अपने पितृओं की मृत्योपरांत संतानें उसकी मुक्ति की खातिर गया, हरिद्वार, गंगा जैसे पवित्र स्थानों में जाकर तर्पण करते हैं। मृत व्यक्ति को स्वर्ग या मोक्ष हासिल करने में यही तर्पण ज़रूरी है। इसलिए पुरुषार्थ रूपी मोक्ष प्राप्ति संतानों के माध्यम से प्राप्त होता है। परंतु आज नैतिकता के युग में इसका मूल्य इतना गिरा हुआ है कि पुत्र गण इसी तर्पण को सिर्फ मौज –मस्ती का अवसर ही मानते हैं। मुरारीलाल की संतानें उसके तर्पण के बारे में कहते हैं "ठीक हैं। इस बहाने घूमना हो जायेगा। मेरी विंटर वेकेशन हो रही है।"[1]

आधुनिक भोगवादी सभ्यता हमारे पारिवारिक संबन्धों को ध्वस्त करते हुए आगे जाते हैं। आज पारिवारिक विखटन तो मात्र पति-पत्नी तक केंद्रित नहीं अपितु वह परिवार के सभी सदस्यों के बीच घिरे हुए हैं 'तीसरा हाथी' की विभा इस बदलते पारिवारिक जीवन से संबद्ध जो कहानी सुनवाती है वह सामसामयिक युगबोध का परिणाम है।"एक बाप था। बेहद नीच। उसके कई बेटे थे।मान लो चार –पाँच थे। वह सब को बेहद तंग करता था। अपने बाप की तरह वह एक दिन बिस्तर से जा लगा। उसे लगा कि अब मर जाएगा। उसने अपनी संतानों को

[1]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.54

बुलाकर कहा। मैंने तुम्हें बहुत तकलीफ दी है । लेकिन अब मेरा अंत समय आ गया है और मैं शांति से मरने केलिये चाहता हूँ, कि मृत्यु के बाद तुम सब मेरे शरीर में एक-एक चाकू खोंप दे.....जब वहचाकू खोंप रहते थे तभी पुलीस आ गयी क्योंकि वह मरने से पहले पुलीस को रिपॉर्ट कर चुका था कि मेरे बच्चे मुझे चाकू से मार डालने की साजिश कर रहे हैं।"[1]

आधुनिक पारिवारिक जीवन घोर यथार्थ को अभिव्यक्त करता है। भाई-बहन के बीच इतनी दूरियाँ, घटना हीनता है, वे एक दूसरेसे नफरत ही नहीं अपने शत्रु ही मानते हैं । आज़ादोत्तर अपसंस्कृति से संबन्धों के बीच तमाम विडंबनाएँ मौजूद होती हैं । तीसरा हाथी में विभा अपनी दीदि शुभा पर आक्रोश करती है –"फ्रेस्टरेशन है, वह भी सेक्शुअल। अगर आप इसी तरह जलती ओर सुलगती रहें तो किसी दिन आप के मेंसेस भी बन्द हो जाएँगे दीदी।"[2]

महानगरीय समाज मृत्युबोध से पीडित है। द्वितीय महायुद्धोत्तर विभीषिका आदमी को भयचकित करती है। आसन्न मृत्यु बोध से पीडित व्यक्ति संत्रास को महसूस करता है। वह अपनी खुशी को नष्टभ्रष्ट करता

---

[1]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.57

[2]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.60

है । " एक अजीब डर अंतर समा गया है । पता है , सहसा यह लगता है कि जिस क्षण हम ज़ोर से हस रहे होंगे, ठीक उसी क्षण यह मकान गिर जाएगा ....ऐसा क्यों लगता है । जब बस में खडी होती हूँ तो लगता है सहसा एक डेबल डेकर पूरी स्पीड में आयेगी और मुझे कुचल देगी ।"[1] इस तरह देखा जाय तो आधुनिक बिगडते पारिवारिक संबन्धों को बहुआयामी ढंग से तीसरा हाथी में प्रस्तुत किया गया है । पारिवारिक टकराहट के सन्दर्भ में रमेश बक्षी के नाटक महत्वपूर्ण हैं ।

आधुनिक क्षणवादी मानसिकता संबन्धों के बीच अनैतिक स्थितियों को उत्पन्न करता है । अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित मस्ती मनाने की सभ्यता, उपलब्ध क्षण को संपूर्णता में भोगने की लालसा, सैक्स केंद्रित जीवन पारिवारिक विनाश का कारण है । आचार्य रजनीश के विचारों से प्रभावित हैं आज के मानव नैतिकता के सारे प्रतिमान बदल दिया गया है । इससे सामाजिक एवं पारिवारिक संदर्भों में महत्वपूर्ण तनाव एवं विद्रूपात्मक स्थितियाँ उपजती हैं । क्षण भर को भोगने में निमग्न मानव की भाग-दौड 'वामाचार' में रमेश बक्षी प्रस्तुत करते हैं –"जीना क्या है ? प्राणायाम ही है। चुनाव लडना भी एक तरह की साधना है । संभोग क्या है ? समाधी की ही एक स्थिति है । किसी

[1]रमेश बक्षी :तीसरा हाथी:पृ.72

लडकी से प्रेम करना उपासना ही तो हैं । .....जीवन में ज़रूरी है सीधे सीधे तन-मन से समाधी की तरफ बढना,लेकिन सच्ची समाधी संभोग के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है । जिसने संभोग नहीं किया, काम को दोनों हाथों से वरा नहीं ....।[1]"

आपातकालीन वातावरण में समाज में भय, विभीषिका ने व्यक्ति की भावनाओं को कुचल डाला है । मृत्यु बोध की विभीषिका से मानव सैक्स की कोकून में छिपने की कोशिश करता है । उस समय संबन्धों में अर्थहीनता द्रष्टव्य है । अंकल के साथ शारीरिक संबन्ध स्थापित करने को लडकी विवश है । नैतिकता के सारे प्रतिमान ऐसे सामाजिक त्रासदी में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । अपसंस्कृति वासनाओं को उकसाती हैं । अतः आज की युवा पीढी शादी और वेर्जिनिटी की सारी प्रचलित मान्यताओं की चुनौती करता है । नैतिकता संबन्धी नयी परिभाषा देते हुए पाज़िटिव कहता है-

"पाज़िटिव: क्या है गलत ? यह मैक्सी कपडे गलत हैं । यदि यह गलत नहीं है तो तुम्हारा मेरे बिस्तर पर लेटना भी गलत नहीं है ।

---

[1]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.24

2. रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.19

यामिनी: लेकिन अंकल कल जब किसी से मेरी शादी होगी तो वह क्या सोचेगा ?

पोज़िटिव: किसके बारे में ?

यामिनी: यही कि मैं वर्जिन नहीं हूँ ।

पोज़िटिव : तुम भी अजीब हो । जिस देश में द्रौपदी पैदा हो सकती है, वहीं तुम पैदा हुई है ।"[2]

शहरीय वातावरण में सब कहीं शोषण मौजूद रहता है । नारी को भोगने और उसकी जिस्म पाने के बिना उसे नौकरी मिलती नहीं । महानगरीय शोषण की वास्तविकता को उसकी निर्ममता के साथ मिस पद्मा प्रस्तुत करती है –"तीन बार आपके साथ सिनेमा देखने जाना पडा था और दो बार रात आपके बिस्तर पर बितानी पडी थी । तब नहीं जाकर नौकरी हासिल हुई और काम शुरू करते ही पहला काम जो करवाना पडा.....एबोर्शन न ।"[1] खुले सेक्स के इच्छुक पोज़िटिव और उसकी पत्नी के बीच ज़रूर संघर्ष उत्पन्न होता है । संबन्धों के बीच आधुनिकता ने निर्ममता प्रस्तुत की है । आज के पुरुष शरीर केंद्रित वासना के शिकार हैं । इसी घिनौने शोषण तथा त्रासदी को वामाचार व्यक्त करता है –"और आप ? बीस शहर बदल? चार बीवियों को छोडा ।

---

[1]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.38

तेरह लडकियों को पिटाया, चार बोस को पीट चुके, ग्यारह नौकरी छोड चुके काला रुपया लिया, जो भी लडकी उसके शरीर के किसी न किसी हिस्से को ज़रूर छुआ ।"[1]

आधुनिक मानव भोगवादी संस्कृति के प्रणेता है । मुक्त भोग और शराब उनकी साधना है । मुक्त भोगी मानव आज ईश्वर से प्रार्थना करते हैं तो मोक्ष नहीं माँगते, इनकी प्रार्थना है -

"ओ ओ ओ माँ ओ माँ ।

मदिरा दे मदिरा

खाने को दे मत्स्य माँस ।

सोने को दे मुक्त चांस।

हर बिस्तर अपना बिस्तर हो ।

चुम्बन मैथुन की सुविधा दें ।"[2] फ्री सैक्स तथा शराब की इच्छा से व्यक्ति अमानवीय हो जाते हैं । इस अमानवीय संस्कृति को, संबन्धों को चित्रित किया है, नाटककार ने। आज भाई-बहन जैसे शब्द मात्र औपचारिक बन गई, उसकी पवित्रता को, गरिमा को आधुनिकता ने लूटा है । अतः

---

[1]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.49

[2]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.55-56

वामाचार में नाटककार कहते हैं –"अरे माताजी इसको भैया कहें तब भी फरक नहीं पडता ,यह तो नीचों का नीच है ।"[1]

आधुनिक मानव खुशी को इकट्ठा करना अपना लक्ष्य मानते हैं । इसके वास्ते पारिवारिक संबन्ध बनते बिगडते हैं । वे नये –नये राहों के अन्वेषी हैं । दाँपत्य के संदर्भ में वह सोचता है- "जब शादीशुदा था तो बीवी से तंक आकर महरी को झेडना शुरू कर दिया था । जब अकेला हूँ तो पूरी युवा पीढी को भ्रष्ट करने का ठेका ले लिया है ।"[2] पतनशील मानवीय सभ्यता में सैक्स की वरीयता को दिखाना तथा स्त्री-पुरुष यौन संबन्धों की वरीयता को जीवनतत्व माननेवाली अपसंस्कृति को रेखाँकित करना वामाचार का मकसद है । वास्तव में यह नये मानव की फूहड मानसिकता का सच्चा दस्तावेज़ है ।

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर महानगरीय परिवेश में यौन चेतना को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ । इससे पारिवारिक संबन्ध बनते बिगडते हैं तथा संबन्धों में अर्थ खोजने की कोशिश मानव करते रहे । आधुनिकता की सोच ने उसे बौद्धिक एवं भौतिक विचारों की ओर आकर्षित किया

---

[1]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.60

[2]रमेश बक्षी:वामाचार:पृ.58

जिससे उनके पारिवारिक रिश्तों में बदलाव आते हैं। आज मानव सुविधा भोगी एवं आत्मकेंद्रित है । अतः परंपरा को अनदेखा करते हुए नवीन संबन्धों की स्थापना करना अतएव पुराने पारिवारिक संबन्धों को विस्थापित करना अपनी आधुनिकता का परिचायक मानते हैं । जो भी हो आधुनिक महानगरीय मूल्यहंता परिवेश में पारिवारिक जीवन सर्वथा बिगडते रहते हैं । तथा व्यक्ति घर परिवार से स्व तक सीमित रहने लगा । उसके अनेक कारणों को हम देख चुके हैं । यांत्रिक सभ्यता से प्रेरणा पाकर आज मानव यंत्रवत बनते हैं । इससे उनका सारा संबंध निरर्थक बन जाता है । शहरीकृत अप संस्कृति ने विकृत वासनाओं को जन्म दिया । संबन्ध हीनता एवं उपयोगवादी दृष्टिकोण से भारतीय पारिवारिक स्थितियों में तनाव आ जाते हैं । अधुनातन मानसिकता और सैक्स की प्रचुरता भी परिवार की आधारशिला को उखाडने में सहायक सिद्ध हुई । कुल मिलाकर कहा जाय तो महानगरीय सभ्यता और बदलते हुए सामाजिक परिवेश पारिवारिक संबन्धों को बिगाडते आगे जाते हैं जिससे व्यक्ति संघर्ष ओर भी त्रासद बन जाता है ।

चौथा अध्याय
कामकाजी नारी और परिवार

भारतीय समाज में नारी

भारतीय चिंतन और भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान माननीय था। सिर्फ भारत ही एकमात्र राष्ट्र है जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड को पराशक्ति माँ का माया मानते है । उसका प्रमाण है ' देवी माहात्म्यं ' । इसमें नारी रूपा ईश्वर की महिमा का मण्डन किया है-

" विद्यासमस्तावस्तव देवी भेदा:

स्त्रीयः समस्तः सकला जगस्तु।

त्वयैक पूरितमंबैयत

काते स्तुतिः स्तव्य परापरोक्ति ।"[1]

अर्थात समस्त विद्या और संसार की सारी स्त्रियाँ देवी का ही रूप है । अतः वन्दनीय है । इतना महान स्थान नारी को भारतीय संस्कृति में था । युगों के परिवर्तन के मुताबिक उसकी मान्यता भी गिरने लगी ।

उत्पत्ति के अनुसार देखा जाय तो नारी शब्द 'नृ' अथवा 'नर' शब्द से व्युत्पन्न है । संपूर्ण संसार को अपने वश में करनेवाले नर को भी अपनी कोख में समाहित करनेवाली है नारी । पुरुष को रमण करने के कारण वह रमणी है तथा नर को विमोहित करने के वजह वह कामिनी

---

[1], वेदव्यास : देवीमाहात्म्यं , पृ-161

है । जीवन को अपने में समाहित करने के कारण वह माता है । पति के साथ सभी कर्मों में सहयोग देती है अतः सहधर्मिणी है। पति को भी स्वर्ग लानेवाली है इसलिए अर्धांगिनी है । इसतरह नारी के विभिन्न रूप है, विभिन्न दायित्व है । "भारतीय संस्कृति ने संपूर्ण विश्व में नारीत्व को ही देखा है । सृष्टि, स्थिति और लय का कारण पराशक्ति को माना है जो विश्व के सभी प्राणियों में शक्ति के रूप में गोचर होती है । सूर्य के ताप और चन्द्र की शीतलता इस शक्ति के ही कारण है । दार्शनिकों के लिए वह शक्ति, माया, प्रकृति या परमेश्वरी है तो अध्यात्मवासियों ने उसे कुण्डलिनी, योगमाया, मुक्तिकांता आदि माना है। कवियों के लिए उषा बाला है, वन लक्ष्मी है, नदी देवता है । इसप्रकार सारे विश्व में नारीत्व का कोमल रूप ही गोचर होता है ।"[1]

युगों के बदलाव के अनुसार नारी की हैसियत भी गिरने लगी । शिक्षा से वंचित होनेवाली नारी घर की रसोई तक सीमित थी । ऐसे ज़माने में शिक्षित होना व्यभिचार से भी घिनौना मानते थे । इन सब के फलानुसार स्त्री जीवन नारकीय बनने लगा, शोषण की चक्की में पिसने लगी ।

---

[1]जे. वरलक्ष्मीः युगो-युगो महिला, पृ-6

स्वातंत्र्योत्तर युग में नारी जीवन

नवजागरण के वजह आज़ादोत्तर समाज में संपूर्ण परिवर्तन विद्यमान है। ऐसी हालत में नारी जीवन में भी बदलाव आना स्वाभाविक है । इस युग में स्त्री शिक्षा का प्रचार हुआ । अब नारी घर की दीवार तोडकर समाज में अपनी भूमिका निभाने लगी । अतः उन्हें नयी समस्याओं का सामना करना था ।

शिक्षित नारी आर्थिक स्वावलंबन के उपलक्ष्य में नौकरी करने केलिए तैयार हुई । इससे पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में संघर्ष उपजने लगे । औरत का बदलते हुए रूप स्वीकारने के लिए और भी समय लगेगा । मौजूदा शोषण की छाया से कामगार औरतों को भी मुक्ति नहीं । "जब तक उसकी मुख्य भूमिका पत्नी और माँ बनना था तब तक तो कोई दिक्कत नहीं थी । परंतु आज इसके अलावा घर से बाहर नौकरी भी करनी पडती है । इसकी वजह से उसकी भूमिका को उलझनें पैदा हो गयी । इस संक्रांतिकाल में उलझनें इसलिए है क्योंकि उसकी पुरानी और नई भूमिका में तालमेल नहीं ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय जीवन में संयुक्त परिवारों का विघटन एवं अणुपरिवारों की स्थापना एक मुख्य प्रवृत्ति है । ऐसे नाभी

---

[1]डॉ प्रमीला कपूरः कामकाजी भारतीय नारी,पृ-37

परिवारों में नारी जीवन बिलकुल त्रासदी पूर्ण है । इस समय कवि रघुवीर सहाय की उक्तियाँ ठीक लगती है-

" पढित गीता, बनिए सीता

फिर उन सब में लगा पलीता

किसी मूर्ख की बन परिणिता

निज घर बार बसाइए ।"[1]

नारी जीवन की दर्दनाक विभीषिकाओं को रेखांकित करना साहित्यकार का लक्ष्य था । समसामयिक समाज औरत को मात्र वस्तु मानने को तैयार है । सारी समस्याओं का मूल कारण यही है । इससे उसका शारीरिक और मानसिक शोषण निर्मम रूप से जारी रहा है । समाज में नारी सिर्फ दैहिक तृप्ति का साधन परिणत होने लगी । उसका अस्तित्व जिस्म तक सीमित होने लगे ।

श्रम के स्त्री पक्ष

भारत में नवजागरण काल से विभिन्न दिशाओं में बदलाव आने लगा । नवीन शिक्षा प्रणाली के वास्ते समय के युगचेता साहित्यकार तथा समाज सुधारकों ने स्त्री विरोधी सामाजिक मानसिकता को कम

[1]रघुवीर सहाय:क्या हम जैसी लडकियाँ

करने में भरसक प्रयास किया । राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती जैसे मनीषियों के कार्यानुसार सती प्रथा, बाल विवाह आदि स्त्री विरोधी प्रथाओं पर सरकार ने पाबन्दी लगा दी । इसके साथ साथ नारी शिक्षा को ज़ोर देने लगे । "नव जागरण काल की सुधारवादी लहर में बहुत सी स्त्रियाँ शामिल थी।सावित्रीबाई, फुले, पंडिता रमाबाई, फ्रांसिना सरोबाजी, सवर्णकुमारी देवी, रमाबाई राना दे आदि । सन 1848 में फुले दंपतियों ने लडकियों के लिए पहला स्कूल खोला था,पंडिता रमाबाई ने सन 1880 में एक दलित से विवाह किया । उन्होंने विधवाओं केलिए आश्रम भी खोला । रमाबाई ने हिन्दु धर्म की रूढियों का कडा विरोध किया ।"[1]

नारीजागरण के फलस्वरूप शिक्षा पाने केलिए वह तैयार हुई । शिक्षित नारी सामाजिक क्षेत्र में गैरबराबरी के लिए लडने लगी । अब तक घर की चहार दिवारों के बीच दम घुटनेवाली महिला आज अपने वर्ग की समस्याओं को पहचान कर, हाशिए ग्रस्त नारी समाज को जाग्रत करने में लगी रहती है । स्त्री शिक्षा के संन्दर्भ में महात्मा गाँन्धी का विचार है- " यदि आप एक पुरुष को शिक्षा देते है तो सिर्फ एक व्यक्ति

[1]क्षमा शर्मा: स्त्रीत्ववादी विमर्श:समाज और साहित्य, पृ-118

को शिक्षित बनते है, लेकिन यदि एक महिला को आप शिक्षित बनाते है तो पूरे परिवार को शिक्षित बनाते है ।"[1]

सहशिक्षा से आत्मगौरव प्राप्त महिलाएँ स्वावलंबी एवं आत्मसम्मान के साथ जीने केलिए नौकरी के क्षेत्र में प्रवेश पाने लगी । काम करने से आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है तथा राष्ट्र के उत्पादन में भाग लेने का अवसर भी उपलब्ध होता है । यह तो बढिया महत्वपूर्ण है कि अंधकारपूर्ण रसोई से राष्ट्र निर्माण में भागीदारी तो उसे गौरवान्वित करते है । "यहाँ हम अभी भी साफ साफ बात देख सकते है कि जब स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के सभी कामों तक सीमित रखा जायेगा , तब तक स्त्रियों की स्वतंत्रता और पुरुषों की बराबरी का हक पाना असंभव हैऔर असंभव ही रहेगा । स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात तभी संभव होती है । जब वे बडे पैमाने पर उत्पादन में भाग लेने में समर्थ होती है और जब घरेलू काम उसने बहुत कम ध्यान देने की माँग करते है ।"[2]

आत्मसम्मान के साथ जीने के उपलक्ष्य में नारियाँ काम काजी बनी । पुरुष - मेधा पारिवारिक जीवन में अब तक मर्द गृहस्थी को संभालते थे । ऐसे सन्दर्भ में नारी को चुप्पी साधना जरूरी थे । लेकिन

---

[1]शांति कुमारी स्याल : नारी मुक्ति संग्राम ,पृ-59

[2]फेडरिक ऐंगलस :परिवार..... पृ-173

शिक्षा के मुताबिक नौकरी करने से उनके अन्दर जो आत्मविश्वास था उससे पारिवारिक जीवन में नयी समस्याओं का प्रादुर्भाव होती है ।“अस्तित्व की स्थापना केलिए कामकाजी होना चाहती है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनना चाहती है,इनका मानना है कि आर्थिक निर्भरता आत्मविश्वास जगाती है । और एक बृहत्तर समाज से जोडती है।”[1]सामाजिक वातावरण को अनुकूल देख कर भारतीय नारी बाहर आने लगी।घर से मुक्ति पाना उनका उद्धेश्य था ।

लग भग 80% प्रतिशत मध्यवर्गीय परिवार की नारियाँ केवल आर्थिक संबल की इच्छा से बाहर काम कर रही है । पारिवारिक आवश्यकताओं की आर्थिक संपूर्ति के संदर्भ में जब पति या पिता का हाथ बटाती है, वहीं अपने दहेज, पढाई, परिवार की समस्याओं के प्रति समर्पित होकर नौकरी करती है । भारतीय जनता के लिए यह नई शुरुआत है तो पश्चिम में स्त्रियाँ कन्धे से कन्धे मिलाकर काम करती है। उन्हीं से प्रेरणा पाकर देशी महिलाओं ने बडे आत्मविश्वास के साथ इन क्षेत्रों में कामयाब बनने की तैयारी की । पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन में अपनी आवाज़ को चुप्पी में तब्दील करनेवाली नारी आज आत्मनिर्भरता से काम करती है । “वस्तुतः फैसलों में भागीदारी नमिलने

---

[1]सं, दिनेश नन्दिनी डालमिलिया, शशि मलहोत्रा:नये आयामों को तलाशती नारी, पृ-40

के पीछे सबसे बडा कारण है स्त्री की आर्थिक परतंत्रता । स्त्री के भरण पोषण में पुरुष उसकी स्वतंत्रता छीन लेती है । आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर स्त्री के लिय फैसलों पर दखल की कल्पना भी कठीन है । स्त्री की आर्थिक असुरक्षा उसे फैसले सुनने की नहीं उन्हें स्वीकारने की भूमिका में आने को विवश कर देती है । यह कडवा सच है मगर सच है ।"[1]

भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण ने महिलाओं के लिए नौकरी उपलब्ध करायी । कम वेतन में स्त्री श्रम मौजूदगी कंपनियों को भी प्रिय था । वैशीकृत समाज में हर कहीं बिकाऊ माल प्राप्त होता है शोषण की ऐसी हालत में नारी काम काजी होने से शोषण का शिकार भी बनती है । " स्त्री श्रम के सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण मुद्धा है । स्त्री श्रम निर्भर कर रहा है, उस बाज़ार और पूँजी पर, जिसकी न कोई स्थानीय प्रतिबद्धता है और न लगाव । बाज़ार स्त्री को कोई दीर्घकालीन आश्वासन नहीं देता और न ही वेतन और कीमत की कोई गारंटी । सब कुछ व्यापार के चक्र पर निर्भर करता है । इस चक्र को चलने स्थानीय प्रबन्धन भी नहीं कि उसे उत्तरदायी माना जाए । मंदी के दौरान छँटनी अवश्यम्भावी है और गरीबी के बनने वाले नये गड्ढे समय के साथ गहरे होते जाते है ।"[2]

---

[1]गीतांजली श्री :स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, पृ-24

[2] प्रभा खेतान :बाज़ार के बीच :बाज़ार के खिलाफ भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न ,पृ-71

इससे उत्पन्न चुनौती कामकाजी नारी जीवन को त्रासद पहूचाने में सक्षम है । श्रमिक समाज के ध्रुवीकरण से जन्मी असहाय हालत में नारी शोषण का नया मार्ग उभर कर आते है । नौकरी करना है तो नारी विकास भी जरूर प्राप्त होगा । अतः कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण ने नारी जीवन को नया रास्ता प्रदान किया है । "तीसरी दुनिया की स्त्रियों का एक सशक्त श्रम – शक्ति में परिवर्तन होने का प्रथम कारण कम विकसित देशों में निर्यात उद्योग का पनपना तथा विकसित देशों में सस्ते श्रम की आवश्यकता महसूस होना । तीसरी दुनिया से जितनी भारी सस्ते श्रम का निर्यात किया जा रहा है, विशेष कर सेवा क्षेत्र में, अपने-आप में वह शोध का अलग विषय है । मैं यहाँ निर्यात उद्योगों में नियुक्त स्त्रियों की चर्चा पहले करना चाहूँगी । कम विकसित देशों में निर्यात, उत्पादनशीलता और कृषि के संबन्ध विकसित औद्योगिक देशों के पूँजी निवेश से संबन्धित है । निर्यात उद्योग पारंपरिक और नये औद्योगिक क्षेत्रों में भारी बदलाव इसकारण आया क्योंकि इस नये उद्योग में भारी संख्या में स्त्रियों की जरूरत थी ।"[1]

पितृसत्तात्मक परिवार में नारी मात्र वस्तु है । समाज अपनी अहंवृत्ति के रूप में नारी शोषण पर तुले हुए है । नवीन पारिवारिक ढाँचे

---

[1]प्रभा खेतान : बाज़ार के बीच :बाज़ार के खिलाफ भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न ,पृ -72

में उसका जीवन एक हद तक बेहतर है । लेकिन समाज उसे केवल एक कमोडिटी मानते है। पारिवारिक जीवन में कामकाजी नारी का हालत दुघर्ष था, क्योंकि उसे घर और बाहर दोहरी भूमिका निभानी पडती है।घर का काम बच्चों के काम तथा आफीस के काम , उसे अकेली ही निपटाना है । सबके लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि काम काजी महिलाओं के बच्चे परिवार के लिए समस्या बन जाते है । "आम तौर पर कामगार महिला को दो स्तरों पर भूमिका आदा करनी पडती है, बाहर नौकरी करे, कमाए और घर आकर बच्चों एवं घर को सँभाले । इन दोनों ही क्षेत्रों में श्रम कार्यों को माध्यम छिपाते है । इस तरह की भूमिकाएँ प्रस्तुत करते समय माध्यम वस्तुतः दो तरह की इमेज प्रस्तुत करते है; एक, वह पुरुष की कामुक संपत्ति है और दूसरी, वह बच्चों की माँ है । उसकी सहिष्णु छवि स्त्री की ऐसी काल्पनिक इमेज निर्मित करती है जो वास्तविक जीवन में ही नहीं ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में महिलाएँ अधिकाधिक रूप में काम काजी होने लगी । इसका कारण मात्र आर्थिक स्वावलंबन नहीं बल्कि पारिवारिक जीवन की सफलता तथा असहाय हालत में गृहस्थी को संभालने की विवशता भी है । आज महिला अपने घर की परंपरा को

---

[1]सं, जगदीश चतुर्वेदी , सुधा सिंह : स्त्री अस्मिता, पृ- 417

स्वीकार करते हुए भी नौकरी करने केलिए तैयार हुई । “1947 में देश का विभाजन होने के बाद ही मध्यवर्ग की स्त्रियाँ बडी संख्या में बाहर काम करने केलिए घर से निकली । इस प्रकार हम देखते है कि मध्य और उच्च वर्ग की स्त्रियाँ दफ्तर में क्लर्क और अफसरों के रूप में नौकरी करने लगी । यह स्वातंत्र्योत्तर काल की घटना है।”[1]

समाज में आज नौकरी करनेवाली नारियों की संख्या काफी है । अतः इन महिलाओं की समस्याओं पर विचार विमर्श हो रहे है । नौकरी की वजह पुरुष वर्ग का शिकार होना उनकी नियती है तथा शिक्षा एवं नौकरी के कारण आज की नारी मानसिकता में परिवर्तन द्रष्टव्य है- “ नैतिकता केलिए जो दोहरा मापदण्ड था। उसके संबन्ध में शिक्षित स्त्रियों का द्रष्टिकोण बहुत काफी बदल गया है और अधिक से अधिक स्त्रियाँ इस दोहरे मापदण्ड को आपत्ती जनक मानने लगी है । नारी और पुरुष की नैतिकता के प्रति समाज ने जो पैमाने अपनाते है उसके प्रति आधुनिक नारी ने अपना विरोध प्रकट किया है ।”[2]

---

[1]डॉ : प्रमीला कपूर : काम काजी भारतीय नारी, पृ-49-50

[2]डॉ : प्रमीला कपूर : काम काजी भारतीय नारी, पृ-36

काम काजी नारी और पारिवारिक जीवन

आज़ादोत्तर ज़माने में नारी रसोई से बाहर निकल कर दुनिया के उत्पादन में अपना हिस्सा बटोरने लगी । नौकरी करके आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना तथा गैरबराबरी को तोडना उनका मकसद था । नारी स्वतंत्रता संबन्धी ऐसी अवधारणा तथा स्त्री की आत्मनिर्भरता पुरुषवर्चस्ववादी सामाजिक वातावरण में पारिवारिक संघर्ष का कारण बन\जाना स्वाभाविक है । कामगार नारी दोहरी भूमिका निभाते वक्त समाज उसे निराधार छोड देता है। पितृसत्तात्मक पारिवारिक जीवन में पत्नी के आर्थिक स्वावलंबन नये नये समस्याओं को जन्म लेती है । संघर्षपूर्ण जीवन जीते समय नारी की समस्या और भी गंभीर होती है । "घर और दफ्तर के कामों की माँग तथा इसके साथ साथ घरेलू सुविधाओं तथा सहायता के अभाव की वजह से छोटी-छोटी घटनाएँ भी काम काजी स्त्रियों को उत्तेजित कर देती है।"[1]

भारतीय पारिवारिक अवधारणा में कामगार औरतों ने नई दिशा प्रधान की है । नौकरी करने से स्वाभिमान का सुख महसूस करनेवाली औरत परंपरा के सामने प्रश्न चिन्ह लगाती है । आत्मसम्मान के वजह पारिवारिक जीवन की असामंजस्य भोगने के लिए नारी आज तैयार

---

[1]डॉ : प्रमीला कपूर : काम काजी भारतीय नारी, पृ-40

नहीं है । शिक्षित आत्मनिर्भर परिवार में असहिष्णुता जल्दी ही तलाक में तब्दील होती है । जिसे संपूर्ण घर ही नहीं समाज भी कोयला होता है क्योंकि तलाक सिर्फ दो युगलों तक सीमित नहीं,उनके बच्चों पर भी अज़रदार होता है । तलाकशुदा जीवन भी प्रायः दूभर है । "तलाकशुदा की ज़िन्दगी बडी कठीन होता है । त्यक्त व्यक्ति अपने को गिरा हुआ और अयोग्य समझने लगता है । उसमें हीनता की भावना उत्पन्न होती है । त्यक्त स्त्री के सामने समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है । वह यौन वासनाओं की पूर्ति हेतु न तो अवैद्य संबन्धों की स्थापना ही कर पाता है और न शीघ्रता से विवाह ही ।"[1]आज छोटी छोटी बातों में नारी अस्मिता घायल होने से युगल दंपतियाँ तलाक लेते है।ऐसे समय इनके बच्चों की परेशानियाँ दंभी माँ-बाप अनदेखा करते है । तलाकशुदा पति-पत्नी हमेशा दूसरा शादी तो करता है लेकिन इनके बच्चों के भविष्य हमेशा अंधकारपूर्ण होना स्वाभाविक है ।

नौकरीपेशा नारियों का टूटता पारिवारिक जीवन

कामकाजी नारियों के पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को केन्द्र में बनाकर रचे गये नाटकों में 'बिना दीवारों का घर' उल्लेखनीय है । मन्नूभण्डारी अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के साथ समझाती है कि घर

---

[1]डॉ सत्येन्द्रनाथ त्रिपाठी: सामाजिक विघटन, पृ- 236

बनाने केलिए ईंट पत्थर की ज़रूरत से ज्यादा प्रेम की ज़रूरत होनी चाहिए। आज के माहौल में जो स्थान प्रेम को था वह घुटन ने हासिल कर दिया। इससे पारिवारिक जीवन का दूभर होना स्वाभाविक है। आधुनिक नौकरी पेशा नारी की आर्थिक स्वतंत्रता से पारिवारिक जीवन जितना संघर्षपूर्ण होता है उसको रेखांकित करने में अजित और शोभा सक्षम है। प्रेमहीन दाँपत्य जीवन जितना ज़हरीला होता है उसका जीवन्त प्रमाण है 'बिना दीवारों का घर'।

आधुनिक नारी शिक्षित होकर नौकरी करने से पारिवारिक जीवन में घुटन महसूस होता है। नारी स्वतंत्रता की चाह समस्याओं के मूल में है। पुरुष के अहं से टकराकर संपूर्ण पारिवारिक जीवन तनावग्रस्त होता है। शिक्षा ने नारी को अपने पैरों पर खडा कर दिया है। कामकाजी बनकर उसने अपने व्यक्तित्व को निखार दिया। चूल्हा, चौका और चक्की से हटकर जब वह पुरुष से कंधा मिलाकर कार्य करने लगी तो पुरुष प्रधान संस्कृति को धक्का लगा। पुरुष अपनी सत्ता को छीनते देखकर विचलित हुआ। "सामाजिक द्रष्टि से देखा जाय तो भारत की स्वतंत्रता के बाद से होने अधिक सारभूत और उल्लेखनीय परिवर्तन में से एक है नारी समाज की आपेक्षिक मुक्ति, घर की चार दीवारों से निकल कर उसका बाहरी दुनिया में शामिल होना। खासकर स्वतंत्रता के बाद की बदली हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में महिलाओं की शिक्षा और

रोज़गार के अवसरों में काफी वृद्धि हुई । कई हालतों के फलस्वरूप इनके लिए समानता की अभिव्यक्ति और इनकी प्रतिष्ठा के नये मार्ग खुल गये है ।"[1]

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में तालमेल न होने के कारण काम काजी नारी व्यर्थता बोध से भर जाती है । घर और बाहर के जीवन में समन्वय स्थापित न कर पाने के कारण उसे नौकरी छोडनी पडती है या तनाव की स्थिति को झेलते हुए अनचाहा जीवन व्यतित करना पडता है । इसप्रकार नारी का जीवन समस्याओं से भर जाता है । अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में वह कहीं समझौता करती है, कहीं विद्रोह करती है या अपने आप को टूटती हुई अनुभव करती है यदि इस टूटन से बचने के लिए वह कोई कदम उठाती है तो परिवार में ही नहीं समाज में भी लांछित होती है और कुण्ठित जीवन जीती है। मन्नू भण्डारी की शोभा की स्थिती ऐसा संघर्ष के साथ थी।

आधुनिक मानव महानगरीय चकाचौंक में जीने के लिए भाग रहे है । इस भाग दौड में जीवन का यांत्रिक तथा एकरस होना स्वाभाविक है । इससे संपूर्ण पारिवारिक जीवन मानवीय संवेदनाओं से विछिन्न होता है । संबन्धों के बीच रेगिस्थानी वृत्ति फैल जाती है । अजित और

---

[1]प्रमीला कपूर : कामकाजी भारतीय नारी, पृ- 3

शोभा इसके नमूने है । उनके जीवन में व्यस्तता है, आपस में समझने को समय नहीं है । अर्थात आधुनिक जीवन में मानवीयता की अपेक्षा यांत्रिकता को वरीयता मिलती है । अजित की बातों से पारिवारिक जीवन की व्यस्तता स्पष्ट होती है- "मुझे तो कुछ करना है । बेहतर होगा हम इन फालतू बातों में अपना समय जाया न करें ।"[1]

अब तक पारिवारिक जीवन में पुरुष की वर्यता चल रही थी । पुरुष सत्तात्मक पारिवारिक अवधारणा में मात्र उनकी आमदनी पर घर चल रहा था । अतः घर में उनका निर्णय ही सब कुछ था । आज नारी भी कमाने लगी । नारी के आर्थिक स्वावलंबन से पुरुष का सहारा लेने की जरूरत कम होने लगती है । अजित और शोभा के बीच यही मुख्य समस्या है । आर्थिक रूप से स्वतंत्र नारी को अपने अंकुश पर चलाने की जिद्ध से समस्यायें उत्पन्न होती है । इस सन्दर्भ में जीजी का कथन ठीक लगता है- "तुम्हारा उसके प्रति आज भी वही व्यवहार है जो दस साल पहले था , पर अब वह चलेगा नहीं ।"[2] काम काजी नारी का आत्मसम्मान को पुरुष वर्चस्ववादी समाज हमेशा अनदेखा करते है, सभी संघर्षों के मूल में यही भावना है। नौकरी पेशानारी को घर तथा बाहर भी तनाव को झेलना है । नौकरी के वजह दफ्तर में ईर्ष्याओं का

[1]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-43
[2]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-35

होना साधारण सी बात बन गयी । पदों के बीच जो संघर्ष था वह अब तक कार्यस्थलों तक सीमित था । लेकिन आज वही संघर्ष का रूप पारिवारिक जीवन में दिखायी देने लगा । जब पत्नी पति से ऊपर उठती है तब पति को वह असह्य बनती है । शोभा प्रिंसिपल बनने से ईर्ष्या से अजित उसका विरोध करते है । "एक घर तुम ठीक तरह से चला नहीं सकती, कॉलेज चला लोगी।"[1] अजित और शोभा के जीवन को दूभर बनाने में नौकरी की भूमिका अहं है ।

कामगार औरत को जीवन में दोहरी भूमिका निभानी है । पहले शोभा को मात्र घर का काम करना था । लेकिन नौकरी मिलने से घर तथा बाहर के काम एक साथ करना था । तो ऐसी सन्दर्भ में शोभा अपने पति से हमदर्दि चाहती है-"अब केवल नौकरी करने में घर नहीं चलता, समझे । वह ज़माना गये अजित, तब आदमी ने नौकरी कर ली, और औरत ने घर के काम कर लिया । अब जब औरत भी नौकरी करने लगी तो मर्द का भी घर के काम में हाथ बाँटना पडेगा समझे ।"[2] बदले हुए सामाजिक वातावरण में पत्नी को सहयोग देना पति का फर्ज था । नौकरीपेशा नारी को पारिवारिक मदद की जरूरत है । "पति-पत्नी दोनों काम करते है लेकिन पति केवल बाहर का काम करता है और पत्नी को

---

[1]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-30
[2]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-32

बाहर के साथ साथ घर का भी सारा काम करना पडता है । इस समस्या को हम कैसे हल करें ? ..... इसमें साफ दिख रहा है कि स्त्री भी कमा रही है, अपने पैरों पर खडी है , आर्थिक रूप से स्वतंत्र है । अब यदि वह खुद नहीं चाहती कि पुरुष घर का काम करे, या पुरुष चाहता है कि घर का काम स्त्री ही करे, तो यह समझना चाहिए कि यह सामंती संस्कारों का प्रभाव हैन । इसको शिक्षा से दूर करना चाहिए ।"[1]

कामगार औरत का आत्मसम्मान पति के लिए ईर्ष्या का कारण बनना स्वाभाविक है । अहंग्रस्त मानसिकता के मुताबिक अजित पूछता है- " कौन कहता है कि औरत नौकरी करे ? छोड दो नौकरी । अब उसकी नौकरी के पीछे यह तो नहीं कि पति , बच्चे , घर सब बेचारे मारे –मारे फिरे।"[2] नौकरी करनेवाली महिलाओं को समाज बुरी नज़रिए से देखता है । पार्टि के समय श्रीमती शुक्ला कहती है– "आजकल जिसे औरतों की हिम्मत कहते है उसी की बात कह रही थी । औरतें क्या आजकल आदमी भी अपनी बीवियों के बूते पर तर्क्की करना बुरा नहीं समझते।"[3] श्रमिक महिलाओं पर बुरी नज़र रखने के कारण उनके पारिवारिक जीवन में दरार आना साधारण सी बात है । उसे चरित्र हीन

---

[1]सं, जगदीश चतुर्वेदी , सुधा सिंह : स्त्री अस्मिता, पृ-106

[2]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-83

[3]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-84

बनाने में लोग तुले हुए है। नौकरीपेशा नारियों का ऐसी जीवन संघर्ष के संदर्भ में कात्यायनी लिखती है- " इन नारकीय स्थितियों में जीनेवाली इन स्त्री सर्वहाराओं को पारिवारिक तनावों और सामाजिक उत्पीडन-लांछन का भी शिकार होना पडता है। भारत की अपेक्षा खुला समाज होने के बावजूद मैक्सिको के पुरुष भी स्त्रियों का मुख्य जगह रसोई घर और बेडरूम में मानते है और समझते है कि माकीलाडोरा व्यवस्था उनके पारिवारिक –सामाजिक जीवन के सूत्रों पर तनाव कर रही है। इसकी खीझ वे औरतों पर उतारते है। चूँकि ज्यादातर पुरुष बेकार है और स्त्रियाँ ही परिवार चलाती है ; इसलिए पुरुष स्वामित्तवादी मानसिकता की कुण्ठाओं का भी स्त्रयों को शिकार होना पडता है पुरुषों की नाराज़गी और विद्वेष को झेलते माकीलाडोरा की मज़दूर औरतों को तरह –तरह से अपमानित किया जाता है और उन्हें अनैतिक, चरित्र हीन और परिवार बिगडनेवाले के रूप में प्रचारित किया जाता है।"[1]

कामकाजी नारी की स्वतंत्रता के वजह घर में उनके दोस्तों का आना स्वाभाविक है। इससे तीसरे की मौजूदगी की समस्या उत्पन्न होती है जो पारिवारिक टूटन का सर्वप्रथम कारण बनते है। पति-पत्नी के बीच जब अविश्वास का दरार पनपते है तो इसकी उपस्थिति से वैवाहिक

---

[1]कात्यायनी: दुर्ग द्वार पर दस्तक , पृ-21-22

जीवन समाप्त होता है क्योंकि नारी आर्थिक रूप से निर्भर होने से उसका जीवन जल्दी ही तलाक में परिणत होते है । 'बिनादीवारों का घर' में जयंत की मौजूदगी तथा उसकी सहायता से अजित को संघर्षपूर्ण स्थितियों से गुज़रना पडता है । इस सन्दर्भ में डॉ चन्द्रशेखर कहते है कि "प्रस्तुत नाटक अपने विविध तेवरों में समकालीन जीवन के यथार्थ की जघन्यता उद्घाटित करता है । वह एक प्रश्न बन कर समकालीन ज़मीन पर खडा हमसे संबोधित है –अपने घर को संभालो, उसकी गिर रही दीवारों को रोको, बैठ रही छत को संभालो ! वह देखो ! एक तीसरा चेहरा क्यों झांक रहा है आपके और आपके बीवियों के बीच । उससे बचो ! मीना और शोभा को जाने से रोको ।"[1]

पुरुष का दंभ, अहं उसके जीवन का अभिशाप है । अजित शोभा से मदद पाना अपमान मानते है । झूठे अहं के वास्ते परिवार को बिगडने से बचाने की कोशिश करते हुए जीजी कहती है- " एक छत के नीचे रहना ही तो साथ रहना नहीं होता .... बीच वाला व्यक्ति हट जाए ,पर संबन्धों पर जो दरार पड जाती है वह कभी नहीं भरती ।"[2] बदलीहुई सामाजिक पृष्ठ्भूमि में पति को पत्नी से भी सहायता पा है – "औरतें क्या आज कल आदमी भी बीवियों के बूते पर तरक्की करना बुरा नहीं

---

[1]डॉ चन्द्रशेखर : समकालीन हिन्दी नाटक कथ्य चेतना, पृ-374

[2]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-37

मानती ।"[1] काम काजी नारी का पारिवारिक जीवन में उभरती नई जीवन द्रष्टी के संप्रेक्षण करने में नाटक सफल है ।

अणुपरिवारों के अंतरंग जीवन, नौकरी पेशा जीवन के संन्दर्भ में महत्वपूर्ण है । खोखले अहं के वजह टूटने वाले परिवार को सच्चे रास्ते पर लाने केलिए आज कोई नहीं है । जीजी की भूमिका इस सन्दर्भ में जरूरी है । वह नई पीढी को समझाती है कि जीवन अमूल्य है उसे बेकार छोडो मत । बिखरे हुए दाम्पत्य जीवन को समझौते के रास्ते पर लाने की कोशिश करती है । "घर की व्यवस्था और काम समय पर न होना इतनी छोटी बातें है शोभा, इनसे संबन्ध नहीं बिगड सकते।"[2] आज के संघर्षपूर्ण पारिवारिक जीवन के यथार्थ को चित्रित करके खोखले जीवन के वजह, दंभ के कारण मानव जीवन दर्दनाक होने की गाथा प्रस्तुत करते है।

पितृसत्तात्मक सामाजिक मानसिकता में नारी को हाशिए पर धकेल देने की साजिश होना स्वाभाविक है । परंतु आत्मनिर्भर नारी आज ऐसी मानसिकता के खिलाफ जंग बोलने को तैयार हुई । इससे पारिवारिक जीवन वास्तव में कुरुक्षेत्र बन गयी । पत्नी को अपने अंकुश पर चलाने की अजित के चाह संघर्ष के मूल में है । बीवि को अलग अस्तित्व न दे कर 'अजित मेड' की छापा लगाते है । उसकी अपनी

---

[1]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-84

[2]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-51

अस्तित्व को अनदेखा करते है। पुरुष की यह हठधर्मिता ने पारिवारिक जीवन को त्रासद बनादेते है। अजित मानते है- " आदमी को उतना ही बढना चाहिए जितनी उसकी औकात हो।"[1] ऐसे पुरुषमेधा मानसिकता के वजह नारी का पारिवारिक जीवन त्रासदीपूर्ण होते है।

अजित और शोभा के अहं जल्दी ही तलाक में परिणत होता है। कामकाजी तलाक की प्रस्ताव अपनी ओर से रखते है स्वावलंबन के कारण शोभा तलाक को मुक्ति मानते है। काम काजी होने के वास्ते तलाक उनके लिए नया रास्ता प्रदान करती है। आत्मनिर्भर नारी आजीवन शादी को एक बन्धन के रूप में ढोने को तैयार नहीं, उनकी यही स्वतंत्रता आज के जीवन की सबसे ज्वलंत समस्या बन गयी है। पति- पत्नी के बीच के ईर्ष्या जन्य तलाक का फल भोगनेवाला सिर्फ बच्चे ही है। तलाकशुदा युगलों के बच्चों की हालत काफी बुरा है। बच्चे को माँ-बाप के प्यार से वंचित रहना पडता है। ऐसे सन्दर्भ में बच्चों जीवन दूभर बन जाते है। पारिवारिक जीवन के दंभ तथा अहं के कारण उसे अपनी ज़िन्दगी हवन करना पडता है। उस दर्दनाक जीवन की चित्रण में नाटककार ने सफलता पाई है। बच्ची अप्पी के जीवन त्रासद होने का चित्रण मिलते है। जीजी अजित को इसपर समझाती है-"यदी तुम

---

[1]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-21

सचमुझ ही मुझे रखना चाहते हो तो जाकर शोभा को ले आओ । अप्पी को तुमने जाने नहीं दिया । अपनी जिद्ध की सजा उस बच्ची को क्यों दे रहे हो ? माँ के रहते उसे बेमाँ का क्यों कर रहे हो ? कैसे बाप है तुम ? "[1] माता –पिता के खोखलापन के कारण बच्चों की जीवन असुरक्षित बन पाते है । इन बच्चों के भविष्य पर अनदेखा करना नासमझी है । "पति – पत्नी तलाक लेते है तो लेने दो, पर उस तीसरे आयाम, बच्चे का आप क्या करेंगे ? वह तीसरा डायमेंशन या तो बाप के प्यार से या माँ के प्यार से वंचित हो जायेगा या एबनार्मल बन जायेगा ? उसपर सोच कर निर्णय लेना है । अपने सुख और अहं की पूर्ति के लिए आप बच्चों को मरवा तो नहीं सकते । फिर उसके लिए क्या कर सकते है ? हर बच्चा ममत्व चाहता है, सेक्युरिटी चाहता है ।"[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कामकाजी नारी के पारिवारिक जीवन संघर्ष की दृष्टि से 'बिना दीवारों का घर' काफी महत्वपूर्ण है । वर्तमान नारी जागरण के माहौल में भी नारी का उद्धार असान नहीं है । पितृसतात्मक समाज में स्वावलंबी जीवन संघर्ष को जन्म देते है । इसका शिकार मात्र नर- नारी ही नहीं मासूम बच्चों को भी होना पडता है । अतः कामकाजी नारी के आत्मसम्मान के साथ जीने की चाह

---

[1]मन्नू भण्डारी: बिना दीवारों का घर, पृ-26

[2]डॉ धनराज मानधाने : कामकाजी नारी : मानवीय संबन्धों का विघटन , पृ-198

पारिवारिक जीवन में बेमेल की स्थिति पैदा करती है ,इसलिए उस खोखलेपन से दूर रहना है ।

कामकाजीनारी के यौन शोषण की समस्या

समाज में आज नौकरी करनेवाली महिलाओं की संख्या काफी है। कामगार औरतों को कार्यस्थलों में अधिकारियों के दबावों का शिकार होना पडता है । नारी को मात्र वस्तु माननेवाले अफसर वर्ग श्रम के शोषण करने के साथ साथ अपनी अनबुझा कामपिपासा बुझाने का माध्यम के रूप भी बना लेता है । कामगार नारियों को ऐसे साजिश से बचे रहना है । "पुरुष उच्चाधिकारी नारी को कुशल अधिकारी मानने के अपेक्षा सिर्फ उन्हें स्त्री के रूप में ही देखता है । अधिकांश अधिकारी महिला कर्मचारी से नाजायज़ फायदा उठाना चाहते है ।"[1]

मध्यवर्गीय परिवार के महिलायें आर्थिक दबाव के कारण नौकरी के क्षेत्र में गुज़र आये । इन्हें किसीन किसी तरह नौकरी की आर्थिक सहायता की जरूरत है । ऐसे हालत में शोषण के वजह नौकरी छोडना नामुमंकिन है । अतः अपनी विवश्ताओं के कारण वह इन्हीं शारीरिक शोषण को बिना फर्याद से स्वीकारलेते है । सहकर्मियों भी उसे रखेल की द्रष्टि से देखकर उसकी अन्दरूनी पीडा को और गहरा बना देता है ।

---

[1]डॉ धनराज मानधाने : कामकाजी नारी : मानवीय संबन्धों का विघटन , पृ-49

आज कार्यस्थलों में व्याप्त अपसंस्कृति के वास्ते नारी जीवन त्रासदीपूर्ण होते है । यांत्रिक जीवन मानव को अनैतिकता की ओर लेजाने में सहायक सिद्ध हुई । आज नैतिकता के सारे मापदण्ड बदल गयी है । ऐसी पतनशील ज़माने में हर कहीं शोषण की भावना पनप उठी है । उच्चशिक्षा तथा नौकरी की आत्मनिर्भरता के वजह आज नारी भी यौन संबन्धि मान्यताओं को नये सिरे से देखने लगे । नैतिकता के सारे प्रतिमानों को तोडने लगी । "नैतिकता के लिए जो दोहरा मापदण्ड था उसके संबन्ध में शिक्षित स्त्रियों का द्रष्टिकोण बहुत काफि बदल गया है । और अधिक से अधिक स्त्रियाँ इस दोहरे मापदण्ड को आपत्ती जनक मानने लगी है । नारी और पुरुष के नैतिकता की प्रति समाज से जो पैमाने अपनाते है उसके प्रति आधुनिक नारी ने अपना विरोध प्रकट किया है । शादी से पहले सेक्स का संबन्ध के कारण पुरुष को भी उतना ही हेय मानना चाहिए जितना स्त्रियों को माना जाता है । ऐसी माँगकरनेवाली स्त्रियों की संख्य निरंतर बढते जा रही है । शिक्षित नवयुवतियाँ नये सिरे से सोचने लगी है कि यदि पुरुष शादी से पूर्व या विवाहेतर सेक्स संबन्ध स्थापित कर सकता है तो स्त्रियाँ भी ऐसा क्यों नहीं कर सकती है ।"[1]

---

[1]प्रमीला कपूर : कामकाजी भारतीय नारी, पृ-137

आज़ादोत्तर समाज में अर्थ की प्रभुता है । पारिवारिक जीवन में भी अर्थ का स्थान बढिया है, तो नौकरी पेशा नारियों के लिए नौकरी छोडना आज़ान नहीं है । अपनी आर्थिक विवशताओं के मुताबिक तथा समय की पतनशील सामाजिक मूल्य बोध के जरिए कामगार औरतों को जितनी विटंबनाओं और विद्रूपताओं को सहना था उसका चित्रण यहाँ हुआ है ।

निगलने को आतुर मगरमच्छ से संघर्ष

नौकरी पेशा नारियों को छेडने को अफसर वर्ग आतुर रहते है । पुरुष के नारी के प्रति रूढिगत रुग्ण मानसिकता आज भी जारी रही है । औरत को कामपूर्ति के साधन मात्र माननेवाले अधिकारी वर्ग अपने अधिकारों के ज़रिए काम काजी नारी से जबरदस्ती अनैतिक संबन्ध जोडने में लगे रहते है । एक हद तक नारियाँ इसकी प्रतिशोध तो करती है लेकिन जल में रहना और मगर से वैर करना कठिन कार्य है ।

भारतीय मध्यवर्ग के काम काजी नारियों के प्रतिनिधि के रूप में श्वेतकमल के बिन्दू आते है । कामगार औरतों की संघर्षग्रस्त त्रासद जीवन को प्रस्तुत करने में वह सक्षम है । पिता के अभाव में परिवार का एकमात्र चारा बिन्दू है । कामकाजी होने के कारण बिन्दू घर की देखभाल करती है । अपनी जीवन को अनदेखा करके परिवार के लिए

कुर्बान होनेवाली उसे नौकरी के वजह उठनेवाले प्रलोभन के साथ समझौता करने के लिए तैयार नहीं है- "आदर्शवादी न होता तो इस तरह अपना भविष्य न बिगाड लेती है ।..... समझौता करके ऐश करती होगी"।[1] परिवार से लडकर अपनी अस्मिता को बचाना चाहती है आधुनिक महानगरीय जीवन में नारी शोषण जितना भयावह रूप में चली रही है उसकी अभिव्यक्ति करने में नाटक समर्थ है । "नारी शोषण की पूरी एक अदृश्य नियमावली है जिसको गाहे –बगाहे हर पुरुष किसीन किसी रूप में अमल में लाता है ।..... इन सामंतीय ताकतों ने स्त्री से उसका सबकुछ छीन लिया है । या तो वह मात्र मनोरंजन का साधन है अथवा परिवार के प्रति कर्तव्यपालन की नियोजिका ।"[2]

कार्याशालाओं में अपसंस्कृति फैल रहे है । नारी के चीर हरण के लिए मौजूदा व्यवस्था उतावले होते है । आज कार्यस्थलों में ऐसी महिलाओं की जरूरत है – "सुदर्शन, मोहक, लावण्यमयी अपने वक्षों को निर्वस्त्र करनेवाली युवति की आवश्यकता है । जो व्यापार की प्रगति के लिए बडे बडे अधिकारियों और मंत्रियों के साथ निसंकोच रमण करनेवाली हो ।" [3] बॉस के साथ काश्मीर जाने तथा शराब पीने की

---

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,प्र-14

[2]डॉ गौतम, वीणा :हिन्दी नाटक आज़ तक ,पृ-303

[3]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,प्र-68

प्रस्ताव को अस्वीकार करने के कारण बिन्दू को नौकरी छोडना पडता है । धन की लालच में समझौता करने के लिए वह तैयार नहीं हुई ।

विष्णु प्रभाकर ने इस नाटक में काम काजी नारी की जीवन विभीषिकाओं को रेखांकित किया है । भूमिका में कहते है- "जब वह काम की खोज में भटकती है तो पदासीन मगरमच्छ उसे निगलने को आतुर रहते है । बहुत सी दुर्बल मन नारियाँ उनके चंगुल में फंसकर नष्ट हो जाती है । जो उनका प्रतिकार करने का साहस करती है । उन्हें भयंकर यातनाओं में से गुज़रना पडता है।एक और परिवार की प्रताडना सहनी पडती है तो दूसरी ओर अपनाजीवन जीने का अवसर भी हाथ से निकल जाता है । वह सूली पर टाँगने को विवश हो जाती है ।"[1]

नौकरी देने को इकट्टे हुए इन्टर्व्यू बोर्ड की मूल्यहीनता को पर्दाफ़ाश करते हुए इस सत्य की और इशारा किया गया है कि इन्टर्व्यू में जीत उम्मीदवार की शैक्षिक योग्यता से मात्र नहीं, उसके लिए कुछ और की जरूरत है । समकालीन ऐसी विसंगती का चित्रण जौहरी द्वारा मिलता है । नीलिमा ने जौहरी से यही समझौता तैयार की है - " वे बहुत योग्य है-एम फिल की परीक्षा दी है । अभी उन्हें आप ले लें। मैं

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,प्र-69

आपके साथ काम करने और आपकी हर इच्छा पूरी करने को तैयार है .... .. । मेरा भी लाभ होगा । और ....।"[1]

उनका शिकार कामकाजी महिलायें हैं । बिन्दू उससे बचपाता है तो उसे दूसरी स्त्री मिलते है । यहाँ आदमी की आदिम वृत्तियों का चित्रण है जिनसे आज भी वह मुक्त नहीं – "यहाँ हर नर भक्षक है, हर नारी भक्ष्य है । भोजन में पूर्व उनके सुपारय बनाने के लिए अनेक यातना देनी होगी जैसे बिल्ली चूहे को देती है ।"[2] आज नौकरी मिलना योग्यता के अनुसार नहीं है । कामकाजी नारी की नियुक्ति उसको शारीरिक शोषण के मुताबिक है – "आज की व्यवस्था में योग्यता के आधार पर नही, लाभ हानी के खाते के अनुसार होता है । और लाभ-हानि का खाता बडा छलिया होता है ।"[3]

कामकाजी औरत को पारिवारिक जीवन भी बडी समस्या है । आज नारी कमाती है, घर संभालती है तो परिवार उस नारी के विवाह की ओर सोचते भी नहीं क्योंकि शादी से घर का आर्थिक सहारा नष्ट होने की संभावना है । नौकरी पेशा नारियों में प्रौढा अविवाहिता नारी की मानसिकता अधिक उलझन पूर्ण है । एक और वह यौन ग्रंथियों से

---

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,पृ-61

[2]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,पृ-72

[3]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,पृ- 74-75

पीडित है तो दूसरी और सहज प्रेम और आत्मीयता पाने केलिए लालायित है । ऐसी नारियों का दर्द समझना कठिन ही है । बिन्दू की माँ उसके विकास से कहती है- "उसकी सेहत भी ठीक नही रहती । तुम शादी करना ही चाहते है तो मैं नीलिमा का हाथ तुम्हारे हाथों में सौंपने को तैयार हूँ ।"[1] कामगार औरत के परिवार उसे एक सीढी बनना चाहते है । जिससे चढकर वे सफलता के मंजिल पहूँचना चाहते है ।

पुरुषवर्चस्ववादी समाज की मूल्य हीन, घिनौने वातावरण में नारी की करुण त्रासदी को इसमें व्यक्त किया है । औरत को नौकरी करने के लिए, नौकरी मिलने के लिये जितना समर्पण करना है उसका सजीव चित्र भी श्वेतकमल में उपलब्ध है । यदि कामकाजी नारी समझौते केलिए तैयार नहीं तो उसे बाहर जाना ही पडता है । ऐसे सन्दर्भ में घरवाले भी उसकी सहायता नहीं देते । अब नौकरी पाने के लिए शरीर को बेचना जरूरी है ऐसा नारकीय वातावरण का चित्रण करके विष्णु प्रभाकर सामाजिक विद्रूपताओं पर खिल्ली उठाते है । काम काजी औरतों के पारिवारीक जीवन की त्रासदी भी उभर आते है कि उसे अपने जीवन इसके बीच खो जाती है । इस प्रकार कामकाजी नारी के बहुआयामी शोषण तथा पारिवारिक समस्याओं को यहाँ प्रस्तुत करते है ।

---

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल ,पृ- 10

यौन शोषण की त्रासदी

नौकरी के वजह औरत को कभी जबरदस्ती आत्मसमर्पण करना पडता है । इससे उसका पारिवारिक जीवन भी संघर्ष में पडता है तथा कार्यालयी जीवन में भी नया समस्यायें जन्म लेती है । अर्थाभाव के वजह उन्हें नौकरी छोडना नामुमकिन है तो इन नारियों से यौन तृप्ति पानेवाले अफसर वर्ग को यह मौका देता है " महिलाओं को अधिकारिओं के गन्दी विचारों के सामने झुकना पडता है अपनी नौकरी एवं पदोन्नती के हेतु उन्हें देह-संपर्क बनाये रखना पडता है । अपराधभावना का शिकार होना पडता है । उनकी पोशाक का भी अपना अलग महत्व है ।"[1]

नारी की विवशताओं के कारण सत्ता उसके जिस्म को अपनाते है । कामगार नारी के शारीरिक शोषण के संन्दर्भ में मुद्राराक्षस के 'तिलचट्टा'और 'योअर्स फेथ फुली' महत्वपूर्ण दस्तावेज है । जिसमें नारी का शोषण तथा उससे उत्पन्न समस्याओं का सच्चा चित्रण मिलता है ।

तिलचट्टा मुख्यतः मध्यवर्गीय मानव की जीवनत्रासदियों का खुला कैनवास है । नाटक में चरित्र के बदले त्रासदी को वरीयता दियाहै । प्रतीकों के माध्यम से आज के मूल्यहीन, घटनाहीन पारिवारिक जीवन का खुला चित्रण करते है । डॉ चन्द्रशेखर मिश्र कहते है - " यह नाटक

---

[1]डॉ धनराज मानधाने:कामकाजी नारी :मानवीय संबन्धों का विघटन,पृ-50

स्त्री-पुरुष संबन्धों को चीर फाडकरते है हुए उनके खोखलापन को प्रस्तुत करता है ।"[1] भय की छाया में नामर्द बेकार देव जीती है । उसकी पत्नी सुन्दरी केशी अस्पताल में नर्स है ।

नाटक की पूरी घटना बेडरूम में होते है । बेडरूम में दोनों की बातों से देव केशी के जीवन में व्याप्त ठंडेपन को हम समझ सकते है । पारिवारिक जीवन आपसी प्रेम-विश्वास जरूरी है, साथ ही यौन तृप्ति भी आवश्यक है । इनके जीवन में यांत्रिक एकरसता है । "बिस्तर पर करने लायक बातें अब बाकी ही कहाँ रही? .....बिस्तर पर आने के बाद थोडे से संवाद फिर कपडा उतारना । थोडी देर बाद कपडे पहन लेना और बत्ती जलाना .... फिर बाथरूम जाना ।...हर रात मैं पूछता हूँ ओढने की चादर रख ली? तुम पूछती हो ...घडी में चाबी दे दी ? पानी का गिलास रख लिया ?"[2]इसके अभाव में समस्यायें उत्पन्न होती है । "दांपत्य संबन्ध को बनाये रखने में सैक्स का सबसे बडा हाथ है ।"[3]

केशी नर्स थी । वह पति की असमर्थता कोमौन सहनेवाली स्त्री नहीं थी। वह भी यौन तृप्ति के लिए कोई न कोई अवसर ढूँढती है । अपनी तृप्ति के लिए वह अस्पताल के डाक्टर तथा काले अनजाने व्यक्ति

---

[1]डॉ चन्द्रशेखर मिश्र : नया नाटक स्वरूप और संभावनाएँ ,पृ-103

[2]मुद्राराक्षस : तिलचट्टा ,पृ-20-21

[3]प्रमीला कपूर :कामकाजी भारतीय नारी,पृ33

के साथ संबन्ध जोडती है । इतना ही नहीं यह सब बात निर्लज्जता से पति को भी सुनवाती है-

" केशीः सहज होकर जानते हो,देव डाक्टर ने इंजेकशन दिया । कहने लगा

कूल्हे पर लगाऊँगा । यहाँ तक साडी उठा दी थी –(नाभी की और इशारा)

केशीः मेरा चेहरा लाल होगया । डाक्टर पाजी है आधा घण्टा लगा दिया था

इंजेकशन लगाने में । और परेशान ही करता चलेगया । ब्लाउज मैंने

पकड रखा था- उसने खींच कर फाड दिया था ।"[1]

कामकाजी औरत की बदली भूमिका केशी में अभिव्यक्त होती है । नामर्द के साथ जीने वाली केशी अपनी भावनाओं की पूर्ति करने से आज हिचकती नहीं । इतना भी नहीं वह खुद यह सब पति को सुनवाती है । आज की नारी भी वह नारी नहीं रही जो पुंसत्वहीन पुरुष को पति रूप में पाकर भी सती बनी रही है । और सैक्स की यातना को किन्हीं अन्य माध्यमों से अपनी इच्छाओं का दमन कर झेल लेती है । कामकाजी केशी आत्मनिर्भर होने के वजह नामर्द के साथ जीने पर भी अपनी इच्छाओं

[1]मुद्राराक्षस : तिलचट्टा ,पृ-75

का दमन नहीं करती । गैरमर्दों के साथ संबन्ध जोडने का साहस नौकरी के कारण मिला ।

आधुनिक नौकरी पेशा नारी की स्वतंत्रता की चाह इस नाटक का मुख्य विषय है । स्वतंत्रता चाहने पर भी केशी घर छोडने को तैयार नहीं हुई । तीसरे से संबन्ध तो स्थापित करती है लेकिन घर लौटने तथा पति को बेकार छोडने के लिए वह तैयार नहीं थी । पत्नी की स्वतंत्रता से पति देव इतना भयाक्रांत है- " हमारे बच्चे की शक्ल किसी से मिलती जुलती हो सकती है ।"[1]

कामगार औरत का निर्मम यौन उत्पीडन

सेवासंहिता के मुताबिक नौकरी पेशा नारियों का ज़बान बन्धकर के उसके शरीर को लूटनेवाले अधिकारियों की दुर्दान्त नीतियों पर यहाँ प्रकाश डाला है। सत्ताधारियों की प्रवंचना और यौन उत्पीडन की भयावह व्याख्या देते हु मुद्राराक्षस के यो अर्स फेथफुली में कंचनरूपा को हमारे सामने प्रस्तुत करते है । इसमे नाटककार ने यथार्थ की नग्न अभिव्यक्ति ही है । इस असंगत नाटक में मुद्राराक्षस ने प्रतीकों के माध्यम से मध्यवर्गीय नौकरशाही यांत्रिकता का आकलन किया है जो संवेदना के स्तर पर काफी सक्षम है ।

---

[1]मुद्राराक्षस : तिलचट्टा ,पृ-47

योअर्स फेथफुली में सरकारी कर्मचारियों के यांत्रिक जीवन तथा जीवन विसंगतियों का सच्चा चित्रण हुआ है । नौकरशाही यातनाओं के बीच जीवन ध्वंस होते हुए आम आदमी की अभिव्यक्ति इसमें मिली है जो सरकारी कर्मचारियों का संवेदन हीन , यात्रिक नपुंसकता की ओर संकेत करने में सक्षम है । नाटक के कथानक आफीस में हडताल के दिन ही घटित होता है । मध्यवर्गीय कर्मचारी अफसर के हुकुम पर चलनेवाले है ।

कंचन रूपा नवयुवति है जो दफ्तर में स्टेनो केरूप में काम करती है । अफसर उससे यौन संबन्धस्थापित करने के लिए विवश उठता है । कार्यस्थल में ही अपने कैबिन में भी रूपा केसाथ जबरदस्ती सैक्स संबन्ध करनेवाले अफसर पुरुषवर्चस्ववादी शोषक वर्ग का प्रतिनिधि है । जो अपने अधिकार के बलबूते पर नौकरी पेशा नारी के जिस्म पी रहे है । इससे स्पष्ट होता है कि मध्यवर्गीय मौका परस्त अफसर वर्ग नारी को मात्र वस्तु मानकर भोग करना ही चाहते है-“ओह मानलीजिए कोई आदमी किसी लडकी पाना चाहता है । उसके साथ सोना चाहता है । लडकी मर जाती है । मर जाने के बाद अगर वह उससे बात करेगा उसे छू लें ...या यों कहिए, उसके साथ सो जाये ।”[1] चपरासी उस दर्दनाक

[1]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ- 37

स्थिति का वर्णन करते है- " एक आदमी ... कौन तो कहता था...एक आदमी मरी हुई औरत की नदी में बहायी लाश निकाल लेता था । और उसका कफ़न उतारने के बाद ....।"[1] मृत्यु के बाद भी नारी को मुक्ति संभव नहीं है । आदम के बुनियाद उसलाश से भी रस पीने को उतावले है । कितना नृशंसक शोषण है ।

नौकरी पेशा नारी को विवाह की बात भी छुपा कर रखनी है वरना नौकरी छूट जायेगी । नहीं तो तबादला जरूर मिलेगा । ऐसी व्यवस्था आज जारी रही है । कंचन रूपा और उसके पति क्लर्क नंबर तीन दोनों एक ही दफ्तर में काम कर रहे है । अतः विवाह की बात को उन्होंने छुपाकर रखा था । दफ्तरी नौकरी तथा उसकी आचार संहिता के कारण औरत को अपना जीवन की सबसे महत्वपूर्ण बात शादी को ओढना पडती है । नारी की त्रासदी को यों अभिव्यक्ति देता है- " रूल है न ? सर तो मैंने सोचा यानी तथा तय किया दफ्तर में हम दोनों अपने आपको अविवाहित बतायेंगे और एक दूसरे को बात भी नहीं करेंगे । बात हम लोग वैसे भी नहीं करते थे । फिर हमने तय किया कि हम करेंगे कुछ नहीं करने से बच्चे आ सकता था ... भेद खुल जाता है न ?"[2] कामगार औरत कोनौकरी के वजह माँ बनने का भी अधिकार नहीं है ।

---

[1]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-46

[2]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-76

नौकरी के वजह से पारिवारिक जीवन को कुर्बान करने पर भी मौन रहने के लिए विवश आम जनता की निस्संगता अभिव्यक्त हुई है। इतना भी नहीं अपनी पत्नी के साथ अफसर के नाजायज तालूकात्त जानते हुए भी क्लर्क नंबर तीन को चुप्पी साधना पडती है -

" तीसरा क्लर्कः मैंने पूछा तुम लोग देख क्या रहे हो ? क्या हो रहा है वहाँ ? वे लोग क्या कर रहे है ? (लोग अंदर देखते रहते है। तीसरा क्लर्क उत्तेजित होकर पैर पटकता हुआ उनके करीब आता है।)

तीसरा क्लर्कः ....(झटक कर लोगों को वहाँ से हटाते हुए) क्या देख रहे हो ? अन्दर तुम लोग ? अपना- अपना काम क्यों नहीं करते ?"[1]

अपनी शादी की बात कहने पर सहयोगी वर्ग इनके प्रति सहानुभूति नहीं प्रकट करते है क्योंकि अफसर के विरुध होना खतरनाक है। प्रतिरोध करना आज मुमकिन नहीं आज की जनता यांत्रिक जीवन से संवेदना हीन होकर सहयोगी पर होनेवाले अत्याचार को आनंद के साथ देख रहे है। इस मध्यवर्गीय निर्मम निस्संगता को भी यहाँ वाणी दी है। "यहाँ शोषण का एक भिन्न रूप दिखाया है । अफसर कार्यालयों में

[1]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-42-43

अपनी स्टेनो कंचन रूपा का शील हरण करता है । तथा कर्मचारियों को आन्दोलन में भाग लेने से रोकता भी है ।"[1]

रूपा अपनी विवशता से त्रस्त है । मौन रूप से उसे शोषण का शिकार होता था । "मुझे लगा कि जैसे किसी ने मेरी खाल चीर कर अलग कर ही हो और आप ऐसे वक्त में सॉस भी नहीं ले सकता । नाक के अन्दर फेफडों तक लपड घुसती है। तो कैसा लगती है।"[2] बॉस के साथ उसके कैबिन में ही संबन्ध स्थापित करना था। उसकी एक और विवशता उसी समय पति की मौजूदगी है । यह उसकी बेबसी को तीव्र बनाती है । प्रशासनिक व्यवस्था की कुरूपताओं को दिखाना लेखक का उद्धेश्य है । रूपा के कथन में उन वर्ग की त्रासदी है । "मैं समझती थी कि आप अभी कुछ करें गे ।"[3] इसतरह रूपा को विकृत वासना का शिकार होना था । इस संदर्भ में दशरथ ओझा जी कहते है- "नाटककार कंचन रूपा को उस नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करना चाहती है जिसमें सैक्स से पराजित मन का अवशिष्ट जीवन तंतु है जिन पात्रों की समझ को भी बीमार कर दिया है ।

---

[1]डॉ देव किशन चौहान :समसामयिक नाटकों में वर्ग चेतना,पृ -212

[2]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-37

[3]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-47

जिन पात्रों में सभी हथियार डाल दिये है या जिन्हें विवश निहत्था कर दिया है, वे अपने जनेद्रियों में ही जिजीविषा खोजे तो आश्चर्य क्या है ?"[1]

इसनाटक में यौन समस्याओं के साथ सत्ताधारियों की विद्रूपताओं का भी खुला चित्रण मिलता है । सरकारी कर्मचारियों की पाशविक मनोवृत्ति एवं संवेदन हीनता को चित्रण करना है । जो आपनी सहयोगी के साथ होनेवाले बलात्कार के प्रति चुप और अपने सामने घटित आत्महत्या को मात्र मदारिन की तमाशा मानते है । -

"चपरासीः वो क्या कर रहा है उसके साथ । वो मरी हुई है न ? (डिस्पेचर उपेक्षा से देख कर दुबारा झाँकना लगता है । चपरासी उबकाई लेता है)

डिस्पेचरःक्या बात है जी ? एक तो मेरी नज़र कमजोर है और ऊपर से तुम उबकाई लेकर डिस्टेर्ब कर देते हो ।

चपरासीः आखिर वो करता कैसे है ? मरी हुई है न....

डिस्पेचरः मरे, तो क्या तुम अपने आपको बहुत ज्यादा जिन्दा समझ रहे है ?"[2] कार्यशालाओं में व्याप्त अनैतिक वातावरण को मंच पर लाते है नाटककार । यांत्रिकता के घिनौने पक्ष को व्यक्त करते है । "अतः यह

---

[1]दशरथ ओझा :आज का हिन्दी नाटक प्रगती और प्रभाव ,पृ-103

[2]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-48-49

कर्मचारियों की आचरण हीनता पर व्यंग्य करते हुए आधुनिक यांत्रिक जीवन यथार्थको पूरी कटुता के साथ उभर कर आज के दूषित परिवेश को नया अर्थ देना का प्रयास करता है ।"[1]

आज के सामाजिक वातावरण में अर्थ ही सर्वस्व है । अतः बेरोज़गारों की भीड से रोज़गार बनने की इच्छा नारी को अधिक ही है । नौकरी की लालसा में नारियों को फसाना पुरुष की मानसिकता है । फिर भी नारी शील देकर भी काम करने के लिए विवश है । नौकरी के वजह रूपा को आत्महत्या करनी पडती है । अधिकारी वर्ग भी कहते है कि नौकरी के लिए उन्हें ही कुछ न कुछ कष्ट उठना पडता था –" ये अधिकार उन्होंने मेरे कन्धे से बाजू उतारने के बाद दिया था । अब मेरे बाजू नहीं है ।.... मेरे हाथ नहीं है रूपा।"[2] व्यवस्था के प्रति तीखा प्रतिशोध करना लेखक का मकसद है ।

कामकाजी नारी की त्रासद स्थितियों को रूपा उद्घाटित करती है । जो समाज के सामने प्रश्नचिन्ह लगाते है कि शादी के बाद भी सरकारी रूल्स के वास्ते अपने को कुमारी घोषित करना है, दूसरी नौकरी के वजह बॉस से मानसिक व शारीरिक जरूरतों को कैबिन में मौजूदा पति के सामने निबटाने की विवशता, माँ बनने की अदम्य लालसा को छोडने

---

[1]चन्द्रशेख्र मिश्र : नया नाटक स्वरूप और संवेदनायें , पृ-104

[2]मुद्राराक्षस :योअर्स फेथ फुली ,पृ-50

की वेदना तथा अंत में दर्दनाक व्यवस्था से परास्त होकर आत्महत्या करने से सब नारी जीवन की त्रासदियों को दस्तावेज है यो अर्सफेथ फुली। आज़ादोत्तर व्यवस्था में भी नारी शोषण ज़ारी रहा हैं मूल्यहंता परिवेश में – कफ़न हटाकर नारी से संभोग करनेवाले।लेकिन लक्ष्य को पाने के लिए उन्हें अपना संपूर्ण जीवन ही कुर्बान करना पडा। संपूर्ण परिवार को आग लगा देना पडा। इतना दर्दनाक त्रासद जीवन है रूपा का। फिर भी कंचन रूपा लाश होकर भी दफ्तरी नियम संहिता के अनुसार अफसर का फेथफुल रहीथी। उस तरह फेथफुल बनने के रास्ते में उसे नारी सुलभ जीवन, पत्नी की हैसियत सब को बॉस के सामने समर्पित करनी पडती है।

स्त्रीशोषण में राजनीती की भूमिका

नारी के शारीरिक शोषण के सन्दर्भ में सत्ताधारी राजनैतिक नेताओं की अपनी अहं भूमिका है। सत्ता के बल पर ये वर्ग नारियों की इज्जत लूटने लगे रहते है तथा झूठे प्रलोभनों के मुताबिक नारियों को फँसाते रहते है। समाज के सम्मुख खोखले आदर्श का मुखौटा धारण करनेवाले नेताओं के असली चेहरा उतार लाना जन पक्ष लेखन का धर्म है। मुद्राराक्षस का 'मरजीवा' शीर्षक नाटक नारी शोषण के संन्दर्भ में मौजूद भारतीय राजनीति के घिनौने पक्षों को प्रकाश डालते है। अकेला

संघर्ष जीतेगा नहीं इसकी घोषणा तो सक्सेना ने भी किया है । लेकिन आदर्शहीन व्यवस्था के खिलाफ लडने को उध्यत होते है ।

मरजीवा नाटक बेकार दंपति की दर्दनाक दुर्नियती का चित्रण है । आज के युवावर्ग की बौद्धिक नपुंसकता को भी दिखाना लेखक का उद्धेश्य है । आदर्श और भूमि पढे लिखे है । आर्थिक असुरक्षा एवं बेकारी के कारण उनके जीवन दूभर हेते है। एसी हालत में आदर्श को नौकरी मिलना असंभव निकलता था । जीने की विवशता के कारण इस सन्दर्भ में सुन्दरी भूमि मोडलिंग द्वारा पैसा कमाने लगती है । अपने घर-परिवार की रक्षा के लिए भूमि अपने शरीर की नग्नता को बेचना चाहती है । आदर्श उसे समझाते है – "यह काम बुरा नहीं और अब तो न जाने कितनी औरतें मोडलिंग करने लगी है । वो तो स्टूटियो में फोटो खींचाती है । बहुत से फोटो तो बिना कपडे पहने ही खींचने पड जाते है ।"[1]

मोडलिंग के क्षेत्र में मौजूद नारी की विवशताओं की ओर भी यहाँ संकेत मिलते है । तथा नारी शरीर की सुन्दरता को समसामयिक वातावरण में बढिया मार्केट है । ऐसी नारी की जिस्म केन्द्रित अपसंस्कृति की पर्दाफाश करना नाटककार का लक्ष्य है।

---

[1]मुद्राराक्षस : मरजीवा, पृ -24

राजनैतिक नेता शिवराज गंधे नौकरी का प्रस्ताव देकर भूमि को घर बुलाते है । नेताओं की शोषण परस्त,मौका परस्त नीतियो के कारण नारी का पारिवारिक जीवन त्रासद बन जाते है -

"शिवराज गंधेः ...अच्छा ... अरे हाँ ..योर वाइफ

(भूमि की और देखता है)

आदर्शः जी हाँ । मैंने अभी परिचय कराया था न । भूमि।

शिवराज गंधेः आप कहीं टीचर है ?

आदर्शः जी नहीं...

शिवराज गंधेःइन्हें बोलने दो ...

भूमिः जी नहीं ।

शिवराज गंधेः घर का काम देखती होंगी ?

भूमिः जी ...

शिवराज गंधेः वैसे अब नारियों को घर के बाहर जाना चहिए । नौकरी के बारे

में इतने .. पिछडे ख्याल नहीं रखना चाहिए ।

आदर्शः नहीं नहीं । पिछडे ख्याल नहीं है । बस कोई ठीक ठाक नौकरी

मिली नहीं ।

शिवराज गंधेः भूमिजी आप मिलिए । आप जैसों के लिए तो नौकरी की कमी

नहीं है । मिलिएगा । नमस्कार ।"[1]

---

[1]मुद्राराक्षस :मरजीवा : पृ 27

राज्यमंत्री की घिनौने हरकतों को व्यक्त करते है नाटककार । भूमि नौकरी लालसा में उसके घर जाता है लेकिन वहाँ जाने का मतलब शरीर को समर्पित करना ही है । "और जाने का मतलब उस गिद्ध के बिस्तत पर सोना ... (वह) ... औरत सूंघने के लिए नहीं बुलाता ।"[1] इससे उनका पारिवारिक जीवन ध्वंस होता है ।

मरजीवा में भूमी और आदर्श राजनीतिक नेताओं के अभियान से मरजीवा धर्म को अर्थात मृत्युकामी धर्म को अपनाते है । युवा पीढि को जीने का संघर्ष से असफल होकर, शोषण की प्रतिक्रिया करने में परास्त होकर मृत्यु को वरण करना पडता है । अंत में भूमि को मारकर आत्महत्या करने का निश्चय लेते है । पत्नी को मारकर आत्महत्या करते समय उसे राजनीती की पक्षधर्मिता का शिकार भी होना पडा है -

"शिवराज गंधेः ठहरो, मैं यहाँ से हट जाता हूँ । मेरे दूर निकल जाने के बाद तुम टिन

टिन का पेट्रोल इसके ऊपर डाल देना ... हाँ । ठीक । आदर्श तुम

समझ गए न!

आदर्शः नहीं ।

शिवराज गंधेः क्या मतलब ।

---

[1]मुद्राराक्षस :मरजीवा : पृ-31

आदर्शः आई रिफ्यूज़ ।

शिवराज गंधेः ये क्या बात हुई ?

आदर्शः मुझे आपका प्रस्ताव ... नहीं ... मैं नहीं , मुझे जाने दीजिए ...

शिवराज गंधेः अरे ..रे ...पकडो इसे ...

(आदर्श भागने की कोशिश करता है । टिन लाने वाला आदमी गंधे के

साथ मिलकर उसे पकडता है ।)

आदर्शः छोड दो .... छोड दो मुझे ..

पुलीस अफसरः ओ हो इसने तो सारा काम गडबड कर दिया .. .

(पुलीस अफसर भी दौड कर जाता है । आदर्श की गर्दन पर इस तरह

चोट करता है कि आदर्श लडखडा जाता है। मार कर उसे बेहोश करने

के बाद लोग जल्दी जल्दी पेट्रोल डाल देते है और भागते हुए आग

लगा देते है)"[1]

वास्तव में आज की प्रतिक्रियाहीन युवावर्ग की त्रासदी को यहाँ रेंखांकित किया है । इसके साथ साथ मोडलिंग के नाम पर शरीर बेचने वाली नारियों का आत्मदुख तथा नौकरी की लालसा में स्त्री को अपनानेवाले भृष्ट राजनैतिक नेताओं के अभियान को मरजीवा शीर्षक

---

[1]मुद्राराक्षस :मरजीवा : पृ-82-83

में अभिव्यक्त है । झूठे खोखलेवादे देकर जनता को भ्रम में डालकर नारी को अपनी वासनाओं की आपूर्ति बनाने की साजिश रचनेवाले राष्ट्र मंत्री जैसे लोगों से नारी को बचपाना मुमकिन नहीं है । उस शोषण के शिकार होते रहना उनकी नियती है ।

नौकरी पेशा नारी की स्वतंत्रता

कामकाजी नारी आर्थिक स्वावलंबन पाकर अपनी स्वतंत्रता की खोज करने लगी । परंपरागत बन्धन को अस्वीकार करके कामगार औरतों ने नारी जीवन को नई दिशाएँ प्रदान की है । नारीवादी विचारधारा का प्रभाव उसमें होना स्वाभाविक ही है । अपने अंदर की आवाज़ सुन कर जीने लिए तैयार ये महिलायें आगामी युग में नवीन चेतना लाने में सहायक सिद्ध होगी । परंपरा का भंजन करने को उतावले होकर नारी चेतना से अभिभूत महिलाएँ नये मार्ग को स्वीकार कर अपने अस्तित्व की स्थापन करती है । तिलचट्टा की केशी इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है ।

मुद्राराक्षस के 'तिलचट्टा' सामाजिक विसंगतियों पर तीखा प्रहार करनेवाला प्रमुख नाटक है । इसके केशी कामकाजी आत्मनिर्भर नारी है । केशी के पति देव नामर्द है । अतः उसकी पारिवारिक जीवन घटनाहीन होना स्वाभाविक है। इसमें प्रतीकों के माध्यम से समयानुसार बदलते

पारिवारिक संबन्धों को चित्रित करते है। डॉ चन्द्रशेखर मिश्रा कहते है- "यह नाटक स्त्री पुरुष संबन्धों को चीरफाड करते हुए उनके खोखलेपन को प्रस्तुत करता है।"[1]

पारिवारिक जीवन को बनाये रखने में आपसी प्रेम, विश्वास जरूरी है साथ ही यौन तृप्ति भी आवश्यक है । इसकी अभाव में समस्यायें उत्पन्न होना स्वाभाविक है । केशी अपनी घटनाहीन पारिवारिक जीवन से कुण्ठित थी। पति के असमर्थता को सहकर सती बनने के लिए वह तैयार नहीं हुई। अपनी अन्दरूनी भूख को मिटाने की मौका वह खुद खोज निकाला है। पति के असाहाय हालत में तीसरे को खोजने में वह सर्वथा तैयार थी। उसी आतंक से देव भी जी रहे है।" मगर केशी बता सकती हो, वह कौन है? हमारे बिस्तर पर ?"[2]

केशी अस्पताल की घटनाओं को छुपाते नहीं खुल कर कहते है "डाक्टर पाजी है। आधा घंटा लगा दिया था। इंजेक्शन लगाने में। और परेशान ही करता चला गया। ब्लाउज मैंने ही पकड रखा थी। उसने खीच कर फाड दिया था।"[3] कामकजी नारी की बदलते भूमिका केशी में अभिव्यक्त होती है । आज की नारी भी वह नारी नहीं रही जो

---

[1]डो चन्द्रशेखर मिश्र :नया नाटक स्वरूप और संवेदनाओं ,पृ-103

[2]मुद्राराक्षस :तिलचट्टा पृ-105

[3]मुद्राराक्षस :तिलचट्टा पृ-74

पुंसत्वहीन पुरुष को पति रूप में पाकर भी सती बनी रही है। और सेक्स की यातनाओं को किन्हीं अन्य माध्यमों से अपनी इच्छाओं का दमन कर झेल लेते है ।

आधुनिक महिला कामकाजी होने के धैर्य के वास्ते नामर्द पति मिलने पर भी माँ बनने के लिए तैयार हुई । तीसरे के उपस्थिती की भय से आक्रांत देव हमेशा सोचते है- " हमारे बच्चे की शक्ल किसी से मिलती जुलती हो सकती है ।"[1]

वर्तमान युगीन त्रासद परिस्थितियों में स्त्री-पुरुष संबन्धों की परंपरागत अवधारणाऐं टूट रही है । अब नर नारी संबन्धों में यौन तृप्ति भी महत्वपूर्ण है । तिलचट्टे के तरह सडन शील गन्दगी और अन्धेरे में रहने वाली यौन भावानाओं से नारी मुक्त हुई । तिलचट्टे की सडन सेबाहर आना वास्तव में स्त्री-पुरुष संबन्धों में स्वतंत्रता का प्रादुर्भाव होने का ही संकेत है । नाटक के अंत में केशी आतंकवादी की पुराबें अपनी सीने से लगाकर तीसरे की स्थिति को स्वीकार लेती है । केशी के इस स्वीकृति में नारी अस्मिता की पहचान हम देख सकते है ।

---

[1]मुद्राराक्षस :तिलचट्टा पृ-47

नारी अस्मिता की पहचान के संदर्भ में काम काजी नारी

शिक्षित नारी घर से बाहर आकर नौकरी करने लगी । नौकरी के वजह आत्मनिर्भर होने लगी । परंतु इससे नारी को स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं है । स्त्री अब भी घरेलू बन्धनों में कैदी जीवन जी रही है । नारी स्वतंत्रता की सारी बातें बाहरी तौर पर है । अतः आज नारी अपनी स्वावलंबन के ज़रिए मन पसंद जीवन अपना ने लगी । अपनी अस्मिता को पहचानने की कोशिश करती है । पुरुषमेधा सामाजिक वातावरण में नारी अपनी अहं भूमिका पाने को लड रही है । इस जंग में नारीवादी विचार धारा से प्रेरणा महत्वपूर्ण है । बन्धन मुक्त होने की उनकी लालसा आज सफलता के पथ पर है । गैरबराबरी से टकरा कर बराबरी का हक पाना उनका लक्ष्य है ।

रमेश बक्षी अपने नाटक 'देवयानी का कहना है' में परंपरा के बन्धन से मुक्त होने केलिए विवश नारी देवयानी का सृजन करते है । जो स्त्री-पुरुष संबन्धों में नये अर्थ देखते तथा सामाजिक जीवन में अपने आत्मसम्मान के खोज करती है । शिक्षित कामगार औरत की प्रतिनिधि बन कर देवयानी खुले आसमान की खोज करते हुए परंपरा से जंग बोलने का साहस करती है जो अपने आप में महत्वपूर्ण है ।

'देवयानी का कहना है' नारी अस्मिता की स्थापना करनेवाले नाटक है। आर्थिक रूप से निर्भर नारी आज अपने अस्तित्व की स्थापना करने में उध्यत होती है। "मैं कमाती हूँ और महा महिम मार्क्स के अनुसार जहाँ आर्थिक आज़ादी है वहाँ ताल मेल बैठ जाता है ।"[1] आत्मनिर्भरता से जाग्रत नारी रूढियों को तोडने में लगे हुए है । अतः देवयानी समाज प्रचलित परंपराओं, मान्यताओं का खण्डन करते हुए नया आयाम खोजती है ।

पारिवारिक जीवन की त्रासदियों को भोगते हुए नारी की पीडाओं को समझकर देवयानी उस रूढिधर्मिता के खिलाफ आवाज़ उठाती है । परंपरा से अलग होनेवाली देवयानी अपने माँ बाप का वैवाहिक जीवन से वितृष्ण होती है । अतः वह विवाह संबन्धि नई अर्थ की स्थापना करते हुए कहती है-" माफ़ करना डाडी आप को और मम्मी को जैसा वैवाहिक जीवन जीते देखा उसे देखकर तय किया कि मैं सिलवर जूबिली विवाह नहीं करूंगा ।"[2]

नारी अस्मिता की चाह करनेवाली देवयानी परंपरागत विवाह को अस्वीकार करती है । स्त्री पुरुष का सहवास को ही स्वीकार करनेवाली नारी जो अब तक पुरुष वर्ग करते थे उसे अपनाते है इसके

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-36

[2]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-34

साथ विवाह को नयी नारीवादी परिभाषा देती है- “शादी केवल एक पास है जिसको हाथ में रखने से खुले आम घूमते है, एक साथ बिस्तर में सोने और दुर्घटना के समय सामाजिक विरोधन होने का सर्टिफिकेट मिल सकता है ।”[1] इतना भी नहीं खुले रूप कहती है । उनके अनुसार “अविवाहित बिस्तर बाजी में खर्च अधिक है डर ज़्यादा है । विवाह का सर्टिफ़िकेट मिल जाये तो नपे तुले खर्च में सुबह से रात तक का हर काम हो जाते है ।” [2]नारी के खोखले आत्मसमान घर तोडने में तुले हुए है । देवयानी कमाऊ औरत होने से स्वतंत्रता की स्थापना तो करती है । पारिवारिक जीवन के संन्दर्भ में अपनी निजी परिभाषा की स्थापना भी करती है ।

पुरुष वर्चस्ववादी मान्यताओं को विस्थापित कर नवीन मान्यताओं की स्थापना देवयानी का लक्ष्य था । अविवाहित बिस्तर बाजी का समर्थन करते हुए उसने पारिवारिक जीवन को कैदी महसूस किया है । वह उस सुरक्षा को चाहती नहीं- “ मेरे ख्याल है सुरक्षित होना एक तरह से कैद है और असुरक्षित रहना एक तरह की आजादी है ।”[3] रूढिगत वर्जनाओं को भी अस्वीकार करते हुए देवयानी घोषित करती है -“ वन

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-27

4 रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-28

[3]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-79

एपल इस नाट इनफ फोर दी होल लाईफ ।"[1] एकगामिता से बहुगामिता की प्रस्तावना रखनेवाली नारी देवयानी वर्जित को मान्य बनाने का प्रयास करती है । उसने अनेक पुरुष से संबन्ध जोडा है । खुले सेक्सुल संबन्धों की बात करती हुई वह नारी की बदली हुई अस्मिता का परिचायक बन सकती है । अपनी डैडी के सामने वर्जनाओं को मान्यता देने की कोशिश करते हुए कहती है- " मैं नाइटी उतार देती हूँ । दिखा दीजिए इसे लोगों को शादी का इससे बडा कोई और प्रूफ अभी मेरे पास नहीं है ।"[2]

परिवार में नारी अस्वतंत्र है । विवाह के बाद माता बन जाने से नारी को हमेशा कैद बनाये जाते है । देवयानी इसे सामाजिक खोखलेपन मान कर उस बन्धन को अस्वीकार करती है । माँ बनने से उसकी स्वतंत्रता विनष्ट होने की, फंसजाने की चिंता थी । अतः मातृत्व को अस्वीकृत करते हुए अपनी अस्मिता की खोज में लगी रहती है देवयानी " माँ बनने को तुम लोग जो नारी की पूर्णता कहते हो न यह शायद इसलिए कि उससे वह पूरी तरह फंस सकती है । फिर कोई रास्ता नहीं रहता .... .. और यह गुडिया ?"[3] शारीरिक संबन्धों से उसे दैहिक भूख

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-80
[2]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-33
[3]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-97

मिटानी है, सुख खोजना है । वह माँ बनने को कभी भी तैयार नहीं । बदलती हुई स्त्री अस्मिता को व्यक्त करते हुए देवयानी कहती है - "किसने यह नियम बनाया और संभोग केवल पुत्र प्राप्ति केलिए किये जाते है । ....

.. लेकिन साधन, मैं एक कविता लिखूँ तो उससे मेरा वंश चलेगा और कोई मेरे विचारों से प्रभावित होकर मुझे जैसी बनना चाहे तो वह मेरा वंश होगा, लेकिन मेरे शरीर में से कोई निकले वह कैसे मेरे वंश होगा ।"[1]

देवयानी नारी विकास में विवाह को बाधा मानते है । नारी को बाँन्ध कर रखने के वास्ते शादी का प्रस्ताव रखता है । खुले आसमान को खोजनेवाली नारी ऐसे बन्धनों से मुक्त होकर रहना चाहती है । अतः देवयानी अविवाहित बिस्तर बाजी को स्वीकृत लेती है । फिर भी शादी के नाम पर मौजूद नारी शोषण को नजरअन्दाज़ करती नहीं शकुंतला और पटेडिया के संबन्धों की अर्थहीनता को व्यक्त करते हुए कहती है- "जिस दिन उस बादशाह ने चमडे के सिक्के चलाये उस दिन बादशाह मर गया । और जबसे मन्दिर में जाकर पटेडिया और शकुंतला जैसे लोग माला बदल कर पति पत्नी बनने लगी । विवाह नाम की संस्था भी मर चुकी है ।"[2]

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-98

[2]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-114

आधुनिक नारी प्रदर्शन के खुलेपन को स्वीकार करती है। नाटक में सारी बातें गैलरी में घटित होता है। नंगेपन को वर्जित नहीं मानता है । पारिवारिक जीवन को नारी अस्मिता के संन्दर्भ में अवरुद्ध मानकर देवयानी परंपरागत संबन्धों को अस्वीकार करते, क्षण भर की खोज करती है- "जिस नंगेपन से मैं तुम्हारे साथ सोई थी वह अद्भुत था, देखो साधन, यह तीन मिनिट चला तो मैं केवल वेश्या थी, जब तीन घंटे चला, आई वाज़ ए कीप। तीन दिन में मैं पत्नी बन गयी हूँ। तीन साल में मैं मिसेज इरा कपूर बन जाऊँगी और पच्चीस और तीस साल यही सब चले तो चन्द्रप्रभादेवी तिवारिन या मेरी माँ की शक्ल से मेरी शक्लें मिलने लगेगी।"[1] इससे पारिवारिक जीवन के संदर्भ में देवयानी नवीन आजादी को खीचते हुए, नये मार्ग अपनाते है।

देवयानी रूढिगत दाम्पत्य से नफरत करती है। पुरुष से बाराबरी की लालसा में पत्नी की भूमिका हमेशा बाधा बनती है । पत्नी के आत्मसमर्पण को अस्वीकार करते हुए देवयानी, अपनी अस्तित्व की और सजग उठी है। परंपरा से विद्रूप करते हुए देवयानी कहती है- " पति – पत्नी की ...उस गंन्ध से मुझे नाशिया हो जाता है। कहाँ गये जी, चाय रखी है।... इस वाक्य में ऐसी लय है कि बोलने से जुकाम हो जाता है।"[2]

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-110

[2]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-62

विवाहोपरांत पति के नाम से पत्नी जाने जाते है । देवयानी गुप्त कभी भी देवयानी बानर्जी बनने को तैयार नहीं थी । अपनी आत्मसम्मान के विरुद्ध मानकर उसे अस्वीकार करने की बात में नौकरी पेशानारी के स्वतंत्र पहचान व्यक्त होते है । स्वावलंबी नारी वर्ग को नई सोच प्रधान की है उसका तर्क है - "बाईस बरस तक लोग जिस नाम से यानी उपनाम से मुझे जानते रहे, उसे इस छोटे से रिश्ते के लिए छोडना उचित नहीं है ।"[1]

आज नारी स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना अपनी परम लक्ष्य मानते है । नारीवादी विचार धाराओं से गैरबराबरी के जीवन से असंतुष्ट नारी अब आदमी पर निर्भर रहना नहीं चाहता है । औरत अपने आप जीवन खोजती है । ऐसी नारीवादियों को पारिवारिक जीवन सीमित और अर्थशून्य लगते है । वे तो स्वतंत्र आकाश की चाह करती है । नारीवादी विचारों के संन्धर्भ में देवयानी का कहना है- "घर आसमान की तुलना में बहुत छोटे आकार का होता है । संबन्ध उडान की तुलना में निहायत संकुचित चीज़ है । पंख जिन्दगी के बोझ से बहुत हल्के होते है ।"[2]

समकालीन नारी शिक्षा तथा नौकरी के वजह से आत्मनिर्भर है । स्वावलंबी नारी जीवन के संन्धर्भ में नारी सर्वथा स्वतंत्र है । उसे आज बेसहारा छोडना पुरुष के लिए नामुमकिन है । आज नारी परंपरागत

---

[1]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-64

[2]रमेश बक्षी :देवयानी का कहना है .पृ-127

रूढियों से विद्रोह कर जीवन का नया रास्ता खोज निकालती है । जो बन्धन हीन, मुक्त है । परंपरा ने उन्हें विवाह, माता जैसे बन्धनों पर बाँन्ध कर रखना चाहा तो नारी अस्मिता से जूझते हुए देवयानी परंपरा की रूढिग्रस्तता को कुचलाकर पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में एक नया प्रस्ताव रखती है । पुरुषवर्चस्ववादी समाज के साथ जंग बोलते हुए देवयानी अपना आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए स्त्री स्वतंत्रता की कामना करती है। वह सर्वथा महत्वपूर्ण ही नहीं, बराबरी का हक प्रदान करनेवाला भी है।

निष्कर्ष

कामगार औरतों के पारिवारिक जीवन में बहुआयामी समस्याओं का सामना करना था। भारतीय नारी की बदलती हुई भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारी जीवन की भिन्न समस्याओं पर यहाँ प्रकाश डाला है । नौकरी पेशा नारी को कार्यस्थल तथा परिवार में दोहरे दायित्व निभाना है। इससे उनके संघर्ष और भी सघन बन सकते है। परिवार भी नौकरी के ज़रिए उसकी आर्थिक मदद पाते है । लेकिन दूधधार गाय होने के वजह उनका अपनी जीवन हमेशा दर्दनाक होना स्वाभाविक है । कामकाजी होने से आर्थिक स्वावलंबन से उत्पन्न अहं उसके घर तोडने में महत्वपूर्ण है जैसे अजय और शोभा । कार्यस्थलों में पुरुष अब भी उसे

निगलने को आतुर रहता है । कंचन रूपा इसका शिकार है । आत्मनिर्भरता से नारियाँ स्वतंत्रता की खोज करती है । नारी अस्मिता को तलाशते कामकाजी नारी परंपरा से लडते हुए नया मार्ग अपना लेती है । इसतरह कामगार स्त्री की बहुआयामी समस्याएँ तथा संघर्षपूर्ण जीवन की कहानी हमें जाग्रत करती है कि नौकरी पेशा नारी जीवन त्रासदीपूर्ण ही है अतः उसे हमें मिलजुल कर कंधे से कंधे मिलाकर भरोसा देना है, ऊपर ले आना है और बराबरी का हक देना है ।

पाँचवाँ अध्याय
भूमण्डलीकरण और परिवार

भूमण्डलीकरण

अद्यतन युग में भूमण्डलीकरण खूब चर्चा का विषय है। आज संसार एक ग्राम के रूप में सिकडा हुआ है। उदारीकरण की नीति के मुताबिक विश्वभर में उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक हैं। वैश्वीकरण ने संसार की हर चीज़ को बिकाऊ माल बना दिया है। नये नये बाज़ारों की खोज में आधुनिक मानव सब कहीं आर्थिक दृष्टि से देखते है तथा सर्वत्र बाज़ार बनाने का प्रयास करते रहते है। इसी बाज़ारीकरण के वजह से भारतीय सामाजिक व्यवस्था के नींवाधार पारिवारिक जीवन की बागडोर आज चूर चूर हो रही है क्योंकि विश्वमण्डीकरण मुनाफे की सोच में संबन्धों को भी देखने लगे। इतना ही नहीं, निजी स्वार्थ के लिए आज तक पुनीत माननेवाले पारिवारिक संबन्धों को भी कुचल डालने में आधुनिक वैश्विक मानव हिचकते नहीं। सामाजिक जीवन में जो जो जीवन अवधारणाएँ प्रभाव डालते है उसका परिणाम वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन में होना जरूरी है। बाज़ारीकरण ने आज के मानव को पूरीतरह से पथभृष्ट किया तो उसका परिवार में भी इसकी प्रतिक्रिया दृष्टव्य है। इस तरह देखा जाय तो भूमण्डलीकरण ने भारतीय पारिवारिक व्यवस्था को नष्ट-भृष्ट करने में अपनी अहं भूमिका निभायी है।

असल में भूमण्डलीकरण व्यापार से जुडा हुआ शब्द है । एक और शब्द में कहा जाय तो भूमण्डलीकरण वास्तव में विपणन संबन्धी क्रियाओं का अंतर्राष्ट्रीयकरण है । यहाँ संपूर्ण विश्व को एक ही बाज़ार के रूप में देखा जाता है। दर असल भूमण्डलीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें विश्वभर के बाज़ार के बीच पारस्परिक निर्भरता पैदा होती है तथा संपूर्ण विश्व में मौजूद लाभ के विदोहन के लिए बाज़ारवादी अग्रसर होते है । आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह उपनिवेशवादी ताकतों का नवीनतम रूप है, नवीनतम तरीके से हमारा शोषण करना चाहते है, लूटना चाहता है लेकिन खतरा यहाँ है कि पहले इन्होंने हमसे हमारा धन-दौलत चुरा था लेकिन आज उनका मक्सद हमारी निजी संस्कृति,भाषा आचार और सभ्यता चुरानी है।

आज ग्लोबलैशेषन के समानार्थी रूप में भूमण्डलीकरण का प्रयोग हो रहा है । उसका एक अर्थ तो यह है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच की भौगोलिक दूरियाँ खतम हो चुकी है । विश्व ज्यादा छोटी हो चुकी है । कोई देश इस मंडीकरण से अलग नहीं रह सकता । अलग रहने के लिए उन्हें कठिन प्रतिरोध करना पडता है । भूमण्डलीकरण को आलोचकों ने यों परिभाषित किया है- “भूमण्डलीकरण का अर्थ विश्व भर के सामाजिक संबन्धों को इतना प्रचण्ड बना देना है कि दूर दराज के क्षेत्रों में जो कुछ भी स्थानीय स्तर पर घटे उसे हज़ारों मील दूर घटनेवाली घटनायें तय

करें ।भूमण्डलीकरण का एक व्यंजना सामान्य रूप में स्वीकृत है, वह यह है कि आज हमारी धरती विश्वग्राम है ।"[1] हिन्दी के वरिष्ठ समालोचक डॉ सुधीश पचौरी कहते है- "विश्वग्राम की परिकल्पना मार्शल मैक्लूहान की है जिन्होंने संचार क्रांति के प्रभाव को विश्लेषित करते हुए कहा था कि सेटलाइट सारी धरती को एक गाँव में बदल लेगा ।"[2]

भूमण्डलीकरण दरअसल बहुराष्ट्रीय कंपनियों का नवीनतम हथियार है । इस सन्दर्भ में डॉ विश्वंभरनाथ उपाध्याय के अनुसार "आर्थिक क्षेत्र में वैश्वीकरण बीसवीं शताब्दी की परिघटना है , किन्तु वस्तुतः यह उन्नीसवीं शताब्दी के मुक्त व्यापार या लेजे फेयर का ही समकालीन संस्मरण है यानी एडमस्मित को पुनः प्रासंगिक बना दिया है ..... इसका मूल विचार यह है कि बाज़ार, व्यापार,व्यवसाय में सत्ता हस्तक्षेप न करें ।"[3]

इन परिभाषाओं से हमें यह ज्ञात होता है कि भूमण्डलीकरण स्वतंत्र व्यापार का न्योता है । ऐसे व्यापार में न है सत्य,न है न्याय, न है मनुष्यता, एकमात्र लक्ष्य मुनाफ़ा है। इनसानियत से विहीन मौकापरस्त शोषण,अमानवीय परिवेश मानव मन को त्रस्त करते है । संत्रस्त मानव

---

[1]एंथोनी गिडैंस : द कान्सक्येन्स आफ मार्डर्निटी : पृ 111

[2]परिवेश : अप्रैल-दिसंबर 1996,पृ-128

[3]परिवेश : अप्रैल-दिसंबर 1996,पृ-128

इस नवउपनिवेशवादी ताकतों से अलग नहीं रह सकते । क्योंकि अकेली प्रतिक्रिया कामियाब नहीं होगी । तो उसे पुनः मौन रूप से औपनिवेशिक शोषण का शिकार होना पडता है । बेहथियार मानव को इसी बाज़ारी सभ्यता अपने प्रभाव से अपना सबकुछ खोकर, निराश्रय,निकम्मा बना देता है ।ऐसी जीवन त्रासदी भारतीय जीवन में आज सर्वत्र विद्यमान है ।

आधुनिक समाज में उपभोग समाज का आधारभूत तत्व बन गया है । उपभोक्तावाद अपनी संहिता बनायी है और उसी के आधार पर सामाजिक समूहों का व्यवहार निर्धारित होता है ।उपभोग की प्रक्रिया वस्तुओं के अर्थ को उपभोक्ता तक पहूँचाती है और उसे लगता है कि वह वस्तुओं का स्वामी है और उसकी जरूरत की पूर्ति हो रही है, जब कि यह केवल भ्रम मात्र है । “उपभोक्ता समाज में पहूँचकर पूँजीवाद का नया युग शुरू हो गया है । इस युग में उत्पादन पद्धति उपभोग के विस्तार पर निर्भर हो गयी है ,वह उपभोग के पुनरुत्पादन पर निर्भर हो गयी । यही पूजीवाद का उपभोक्ता युग है ।”[1]

कुछ लोग उपभोग को एक खास समुदाय, समाज के खास वर्ग अथवा आर्थिक वर्गों द्वारा की जानेवाली क्रिया मानते है, तो कुछ उपभोग को सामान्य तौर पर संसार में होनेवाली प्रक्रिया के रूप में

---

[1]सुधीश पचौरी : आलोचना से आगे :पृ -42

देखते है। उनका मानना है कि जिन वस्तुओं का मूल्य अर्थात उपयोगिता मनुष्य केलिए घट जाते है, वह वस्तु अर्थात उसकी उपयोगिता भी उसी रूप में समाप्त होने लगती है। जिस तरह मनुष्य अपना जीवन जीता है और जी कर मृत्यु को प्राप्त करता है, ठीक उसी तरह वस्तुओं का भी उत्पादन होता है,मनुष्य द्वारा उसको उपभोग में लाया जाता है और उपभोग हो जाने के बाद वह समाप्त हो जाता है।

जब सारी शक्ति क्षीण हो जाती है, मूल्य घटने लगता है; कोई पूछने वाला नहीं होता है,अंत करीब होता है और अंततः सब समाप्त हो जाता है। जिस तरह हमारे जीवन में उत्साह,उत्तेजना,रोष,कुछ कर गुज़रने की चाह आदि एक खास समय अर्थात जवानी में अत्यधिक होती है और बुढापे आते आते यह सब लालसायें समाप्त होने लगती है। ठीक इसी तरह उपभोग भी अर्थशास्त्र का एक ऐसा हिस्सा है जहाँ आ कर सारी मज़ेदार क्रियाएँ जो कारखानों व बाजारों में घटित होता है, समाप्त हो जाती है।

उपभोग विनाश का कारण भी है क्योंकि अमीर और गरीब के बीच उपभोग जो दायरें खडे करते है वह ज़्यादा तीखा है। अमीर वर्ग अधिकांश वस्तुओं का उपभोग कर पाया है क्योंकि उसके पास दौलत है जबकि गरीब अपनी रोज़ी रोटी में फँसा रह जाता है। वहीं मध्यवर्ग

अपनी जरूरतों को कम करके एशो आराम की वस्तुओं का उपभोग करने में लगा रहता है । मध्यवर्गीय परिवार जिस पर उपभोक्ता संस्कृति का जबरदस्त प्रभाव पड रहा है, वह आज इन्हीं इच्छाओं व कामनाओं को पूर्ण करने में लगा हुआ है । इस चक्कर में न तो वह अपनी भावनाओं का ध्यान करते हैं और नहीं उसका ध्यान रिश्तों व संबन्धों पर होता है ।

आज मनुष्य पहले स्वयं को संतुष्ट करता है फिर रिश्तों व संबन्धों की तरफ ध्यान जाता है । ऐसा नहीं है कि वह भावनाओं व संबन्धों के बारे में नहीं सोचता है अपितु बाज़ार ने उन्हें इसतरह जकड रखा है कि वस्तुओं से स्वयं को खुश रखने का प्रयास करता रहता है । उपभोग करना भोजन ग्रहण करने की प्रक्रिया के समान ही है जिसमें उपयोगी चीज़ों का हमारा शरीर ग्रहण कर लेता और अनुपयोगी सब बाहर निकाल देता है । उपभोग को इस तरह देखा जा सकता है-"जिस वस्तु के उपभोग से न्यूनतम सुख,परंतु उपभोग न होने पर अत्यधिक पीडा का अनुभव हो उसे 'अनिवार्य आवश्यकता' कहा जाता है । जिस वस्तु के उपभोग से पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सुख और उपभोग न करने से थोडा कष्ट मिलता है, उसे 'आरामप्रद आवश्यकता' तथा जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर उपभोक्ता अत्यधिक सुख का अनुभव तो करता है, परंतु जिनकी पूर्ति न करने पर सामान्यतया पीडा की

अनुभूती नहीं होती, उन्हें विलासिताएँ कहते है ।"[1] साठ और सत्तर के दशक में विश्व की पूँजीवादी व्यवस्था में आये परिवर्तनों में प्रमुख था उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीयकरण और दूसरी पूँजी का स्थानांतरण । इन दोनों प्रक्रियाओं ने विश्वव्यापार को जन्म दिया ।भारत ने 1991 से उदारीकरण को अपनाया । आज़ादी के बाद जीवन को आसान और खुशहाल बनानेवाली वस्तुओं का उपभोग काफी बढ गया । उदाहरण के तौर पर स्कूटर, मोटोर साइकिल,कूलर, टेलिविज़न, गैस, रेफ्रिजरेटर,वार्शिग़ मशीन । अब कम्पूटर, लैपटोप, मोबाइल जैसी विदेशी वस्तुओं का प्रचलन बढ गया । महँगी घडियाँ, ऐशो आराम की सारी वस्तुओं का उपभोग तेजी से हो रहा है । इस तरह का उपयोग उपभोक्ता की आय पर निर्भर रहता है । इसलिए आज वैयक्तिक जीवन में समस्यायें उत्पन्न होती है । आज उपभोग को विकास का हिस्सा कहा जा सकता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति भोगता है और खुश होता है । उपभोक्ता संस्कृति में ऐसा माना जाता है कि हम जितना उपभोग करेंगे हमें उतने ही खुशी मिलेगी। परंतु वास्तविकता कुछ और है । वह विलासिता के साथ अपने संबन्धों को बनाये रखना चाहते है ।

---

[1]डॉ जे. एम .जोशी : अर्थशास्त्र के सिद्धान्त : पृ-173

भूमण्डलीकरण ने प्रत्येक वस्तु को उपभोग के दायरे में ला खडा किया है। कला, संगीत,साहित्य,संस्कृति, संबन्ध यहाँ तक कि स्वयं मनुष्य भी इस श्रेणी में आते जाते रहे। उपभोग क्या है ? खाया-पचाया, मन भर खाया तो फेंक दिया। उसी प्रकार उपर्युक्त सभी चीजों का तब तक उपभोग किया जाता है जब तक वह लोगों को रुचिकर लगती है। जो हिस्सा उन्हें पसंद नहीं आता तो निकाल देता है। उपभोक्त वस्तुएँ कौन सी है इसे बाज़ार ही तय करता है। प्रत्येक व्यक्ति की माँग को समझ कर ही बाज़ार में माल उतारा जाता है। भूमण्डलीय बाज़ार अपनी मार्केटिंग के तौर तरीकों से सामाजिक जीवन को खरीद-बिक्री के पैमाने में ढालना जा रहा है। ऐसे वर्ग की मानसिकता दरअसल आत्मकेन्द्रित है। उन लोगों के बारे में कहते है- "आज़ादी के साथ ही साथ एक नये क्लास का उदय हुआ है। वह है न्यूक्लास, अब तक उसका कोई भी अस्तित्व नहीं था, कोई उन्हें जानता नही था। इतने दिन वे लोग मोटा खाकर मोटा पहन कर देश सेवा कर रहे थे। अब उन लोगों ने बंगले बनवा दिये है,गाडी खरीद ली बिना एयर कन्डीशन कमरे में उन्हें नींद नहीं आती। आज वे लोग वी.आई.पी . कहलाते है। इस न्यूक्लास की सहायता के बिना किसी को परमिट नहीं मिल सकता । बिना इसकी सहायता से नौकरी,धंधा,इंडस्ट्री,फैक्टरी कुछ भी नही हो सकता।"[1]

---

[1]श्याम सुन्दर घोष : भारतीय मध्यवर्ग :पृ-106

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपनी वस्तुओं के उत्पादन की अतिशयता से पारिवारिक सामूहिकता को तोडा है । आज वस्तुओं से जीवन स्तर का निर्णय हो पाते है । संयुक्त परिवार की अवधारणा को इससे ठेस पहूँचता है । पारिवारिक इकाई जितने छोटे-छोटे हिस्से में होते है बाज़ार को उतना ही बल मिलता है । इस तरह देखा जाय तो आज़ादोत्तर भारतीय समाज में उपभोक्तावाद की पकड दिनों दिन बढती जा रही है । भूमण्डलीकरण ने उसे तीव्रगामी बनादिया है । वास्तव में उपभोग वैयक्तिक सुख सुविधाओं पर सापेक्षित है । अतः पारिवारिक जीवन में उनका प्रभाव ज़्यादा सघन है ।

उपभोक्ता संस्कृति का प्रभाव

भूमण्डलीकरण ने मानव मन मस्तिष्क को प्रभावित किया । हर चीज़ को उसके मूल्य की तहत पहचान मिलते है । ऐसे संन्दर्भ में संस्कृति भी उनके लिए बिक्रि के माल है। भूमण्डलीकरण देशी संस्कृति को विनष्ट करते है तथा अंग्रेजी भाषा,पश्चिमी सांस्कृतिक वस्तुओं व उनकी उपभोग आदी का प्रसार हो रहा है । इससे देशी संस्कृति व सभ्यता का नाश होना स्वाभाविक है । बाज़ारीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति एक उद्योग की तरह मानी जाती है ।जहाँ उत्पाद,पण्य, ब्रांड शामिल होते है ।"पश्चिम की मौजूदा संस्कृति में साम्राज्यवादी तत्व है जो कला, साहित्य,संगीत और

जीवन के अनेक क्षेत्रों में भारतीय परंपराओं को निष्कासित कर उन पर हावी हो रही है। यह संस्कृति बाज़ार की जरूरतों के अनुसार विकसित हुई है और विज्ञापन और प्रतिस्पर्धा इसका मूल तत्व है।"[1]

विदेशी उपभोक्त संस्कृति का लक्ष्य अपने ग्राहकों को यह बताना है कि अमुक वस्तु चीन की है या जापान की है। खास तौर पर सामानों पर ऐसा लिखा जाता है जैसे मैइड इन जापान, मैइड इन इंग्लैण्ड चाहे वह भारत की ही क्यों न बनी हो। इस तरीकों से वह ग्राहकों को आकर्षित करता है। इसमें मुख्य भूमिका विज्ञापन का है। विज्ञापन इसका अनिवार्य अंक है। विज्ञापनों के ज़रिए ऐसी वस्तुएँ हमारे सामने आती है। दरअसल एक सांस्कृतिक दृश्य है जिसमें यह ध्यान रखा जाता है कि उत्पाद को स्थानीय जन तक पहूँचा जाए।

निजी तौर से प्रत्येक चीज़ को अपनी हैसियत से जोडना इसी बाज़ार की देन है। आज का युव वर्ग वस्तुओं को अन्धाधुंध तरीके से खरीद रहा है। इस तरह उपभोक्तावादी समाज में सबकुछ बिकाऊ माल बन जाता है।

समाज के सभी परिवर्तनों का प्रभाव पारिवारिक जीवन में भी पडना स्वाभाविक है । भूमण्डलीकृत सामाजिक वातावरण ने

---

[1]सच्चिदानंद सिंहा : भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ: पृ-34

पारिवारिक अवधारणा को विनष्ट कर दिया है। उपभोक्तावादी मानसिकता ने व्यक्ति को इनसानियत से हीन स्वार्थी बना दिया है । वे अपने रिश्तों के प्रति बेवफा देने में वह हिचकते नहीं ।

भूमण्डलीकरण और हिन्दी नाटक

समाज का प्रभाव साहित्य पर पडना स्वाभाविक है । अतः अद्यतन युगीन साहित्य भी भूमण्डलीकृत वातावरण से ज़्यादा प्रभावित है । साहित्य की सभी विधाओं में भी वैश्वीकरण की अहम पकड है, हिन्दी नाट्य जगत भी इससे असंपृक्त नहीं है । हिन्दी नाटकों के वैश्वीकरण का प्रभाव भारतेन्दु युग से दृष्टव्य है । इस तरह देखा जाय तो 'अन्धेर नगरी' बाज़ारी करण के सशक्त प्रभाव को अपने आप में समेटते है । भारतेन्दु हरिचन्द्र ने जो बात लिखी,वह आज भी प्रासंगिक है । 'अंधेर नगरी'में खुला बाज़ार सामने आता है बाज़ार में सभी चीज बिकने को है । जाति,धर्म, सच,झूठ सब बिकाऊ माल बन गया है । सभी का दाम एक जैसा है ।ब्राह्मण कहता है- " जात लें जात, टके सेर जात । एक टका दो,हम अभी अपनी जात बेचते है, टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहे वैसी व्यवस्था दे । टके के वास्ते झूठ को सत्य करे । टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान। टके के वास्ते हिन्दु से क्रिस्तान ।टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचे,

टके के वास्ते झूठी गवाही दे, टके के वास्ते पाप को पुण्य माने, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद-धर्म-कुल-सच्चाई-बडाई सब टके सेर लुटाय जाय, अनमोल माल । ले टके सेर ।"[1]यहाँ हर चीज़ को बिकाऊ बना देनेवाली संस्कृति की ओर जो सूचना भारतेन्दु ने दी वह आज के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। 'अन्धेर नगरी' में महंत बाज़ारी प्रभाव से अपने आप को बचपाने का सन्देश देता है । उसका परिणाम भी महत्वपूर्ण है । इस प्रकार देखा जाय तो वहाँ से लेकर आज़ादोत्तर भारतीय बाज़ार का भी चित्रण करना जरूरी है । अतः हमें आधुनिक हिन्दी नाटकों को भी देखना अनिवार्य है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में इसतरह की मूल्यहीनता के कारण पारिवारिक जीवन ध्वंस हो जाते है।

'श्वेतकमल' में विष्णु प्रभाकर ने विज्ञापन के कारण टूटते भारतीय पारिवारिक संबन्धों को रेखांकित किया है। इसमें दोनों तरह के शोषण अभिव्यक्त है। एक वह वर्ग है जो नारी को इस्तेमाल केलिये प्रलोभन देते रहते है तो वहाँ नारी उस शोषण का प्रतिरोध करना चाहती है। दूसरा वर्ग खुद ही अपने को शोषण का अभिन्न हिस्सा मानते है । विष्णु प्रभाकर ने आज के वैश्विक समाज में व्याप्त अमानवीय वातावरण को समेटने का प्रयास किया है। आज सब कहीं इस्तेमाल का

[1]भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : अन्धेर नगरी; पृ-44

युग है । नौकरी मिलना और नौकरी में तर्की पाना आदि केलिए भूमण्डलीकृत समाज ओर कुछ चाहता है । उसी त्रासदी को बिन्दु व्यक्त करता है- "मैं न पूनम बनना चाहती हूँ,न रंजना की तरह किसी को अपनी हत्या करने की आशा दे सकती हूँ ।"[1] यहाँ बिन्दु अपने को बचाने के लिए समझौता या सिर झुकाने को तैयार नहीं है । लेकिन मौका परस्त व्यवहार निगलने को विवश है । इसमें 'पूनम' और 'नीलिमा' बाज़ारवाद के प्रलोभन में सब कुछ भी बेचने को तैयार है । पूनम मानती है- "जो खुला है वह बुरा नहीं होता । बुरा है पर्दा ।"[2] प्रदर्शन बाज़ारीकरण का अभिन्न अंक है तो अपने को इससे असंपृक्त मानने को नारी तैयार नहीं है । नीलिमा उपभोग संस्कृति के प्रभाव में पडकर अपने को बिकाऊ बना देती है । "वे बहुत योग्य है, एम.फिल की परीक्षा दी है अभी । उन्हें आप ले लें । मैं आप के साथ काम करने और आप की हर इच्छा पूरी करने को तैयार हूँ ।..... मेरा भी लाभ होगा । और .....।"[3] इसके साथ साथ मोडलिंग के नाम पर युवा पीढियों में होनेवाले अमानवीय शारीरिक शोषण को भी नाटककार ने प्रभावात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है ।कॉलगेल्स आज के समाज में मान्यता प्राप्त धंधा बन गया है । अर्थ की प्रभुता के कारण उपभोक्तावादी

---

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल: पृ-20

[2]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल: पृ-12

[3]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल: पृ-21

समाज में युवा पीढी कॉलगेल्स बनने से भी हिचकती नहीं है । उनका लक्ष्य धन मात्र है “वहाँ कुछ और है यार ..... सुना है एक रात केलिए हजार तक मिल जाते है ।”[1] इससे उनका अपनाजीवन और पारिवारिक जीवन दोनों खत्म हो जाना स्वाभाविक है ।

भूमण्डलीकरण के इस ज़माने में इनसान की सब से बडी त्रासदी यह है कि वह संवेदनशून्य बनता जा रहा है। संवेदनशून्यता, संवादहीनता को जन्म देती है, इनसान अनुदार बनता है, धन दौलत के जादू में आदमी इनसानियत को खोता है । गरीबी से पिसते आम आदमी की अभावग्रस्तता का खूब लाभ उठानेवाले एक तबके, इस वैश्वीकरण के ज़माने में उभर आये है । लक्ष्मीकांत वर्मा ने ‘रोशनी एक नदी’ में समाज के ऐसे कमज़ोर असहाय और किसी हदतक निष्क्रिय हो गये हिस्से का चित्रण किया है । बुनियादी जरूरतों से वंचित भारत की आम जनता के जीवन यथार्थ को इसमें रेखांकित किया है । बाज़ारवादी प्रभाव ने उनके जीवन त्रासदी को ओर भी गहरा बना दिया है । अर्थलोलुप ठेकेदारी वर्ग इनका खून चूसने में लगे रहते है । यहाँ ठेकेदार बस्ती में जाकर कुमकुम जैसी औरतों से, उनके बच्चों को जुलूस में ले लेने को तथा हवाई अड्डे पर झण्डे लेकर खडे रखने केलिए किराए में लेता है । हमेशा खाली हाथ

---

[1]विष्णु प्रभाकर : श्वेतकमल: पृ-56

कुटिया में लौटनेवाले बेकार पति और भूख सहते सहते खाली पेट सोनेवाले बच्चों के बीच खडी होकर कुमकुम जैसी औरतों के सामने बच्चों को किराये देने के सिवा ओर कोई विकल्प नहीं है । जैसे वह कहती है " मैंने दे दिए छः बच्चों को चौबीस रुपए मिले । गरीबी पैसे से हटती है ।"[1]

श्रम का शोषण तथा अधिकाधिक लाभ को प्राप्त करना भूमण्डलीकृत सामाजिक व्यवस्था की अहम पहचान है । अर्थ को सामाजिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा बना देने में उपनिवेशवादियों का ही हाथ है । उसीप्रकार आज श्रम को लूटने में नवउपनिवेशवादी ताकतें तुली हुई है । उन्होंने ज़्यादा से ज़्यादा कमाने केलिए बच्चों को काम करने को बाध्य करते है । बालश्रम तो यहाँ जुर्म है लेकिन सरकार भी इससे मुक्त नहीं है । मृदुला गर्ग अपने नाटक 'जादू का कालीन' के माध्यम से इस बीभत्स सच्चाई का बयान दे रही है । कालीन उद्योग में कार्यरत बच्चों की दृर्दशा और शोषण का दर्दीला दास्तान ही नाटक में प्रस्तुत किया है । इस दुनिया में आदमी की सब से बडी समस्या भूख है । भूख के सन्दर्भ में इनसानी रिश्ते चाहे माँ-बेटे के हो या पिता-बेटे के हो किस अमानवीय धरातल पर पहूँच जाता है, इसकी बेबाक अभिव्यक्ति इस नाटक में हुई है । आर्थिक तंगी के वजह पारिवारिक जीवन जितना दूभर

---

[1]लक्ष्मीकांत वर्मा : रोशनी एक नदी है : पृ-32

हो जाता है उसका प्रमाण है 'जादू का कालीन' । अर्थाभाव से लाभ उठानेवाले मौकापरस्त व्यवसायी लोग इनसे, इनके बच्चों को खरीदने को आते है, इस सन्दर्भ में रमई अपनी बेटी को बेदर्दी से श्रम की दूकान में फेंकती है । उनकी निर्ममता का एहसास हमें उनके शब्दों में मिलता है– "मेरी लडकी को ले के जाओ बाबू । सौ नहीं तो अस्सी दे देना । ले जाओ बाबू । नब्बे नहीं तो अस्सी दे देना ।"[1]अपने बच्चों को बिकाऊ बना देना कितनी नृशंसता है । बच्चों के इस्तेमाल से धन कमाने की प्रक्रिया का चित्रण करते हुए नाटककार ने शादीरूपी प्रहसन को भी अभिव्यक्ति दी है । अपनी बच्चों को किसीन किसी वजह लडकेवालों को देना है । उसके लिए इस शादी से होनेवाले फायदाओं का स्पष्ट प्रमाण देता है-"जैसे दुबली पतली भले है, पर काम पक्की है । हमारी गाय-भैंसों को सानी पानी भी करा करते थे ।"[2]

भीष्म साहनी के 'माधवी' में भी उपभोक्तावादी सामाजिक वातावरण में दम घुटनेवाली नारी जीवन अभिव्यक्त है । महाभारत पर आधारित इस नाटक में पुरुषमेधा समाज के अहं के मुताबिक नारी को एक बिकाऊ माल बना देने की त्रासदी अंकित है । पहले दानवीरता पाने केलिए पिता ययाती ने माधवी को गालव के हाथ में सौंप कर अपनी

---

[1]मृदुला गर्ग : जादू का कालीन : पृ-22

[2]मृदुला गर्ग : जादू का कालीन : पृ-64

पुत्री को अपमानित किया । दान तो मौन में ही देना है । लेकिन ययाती दान देते समय अपनी बेटी के गुणों की प्रशंसा करते है जैसे बाज़ार में कोई माल बेचते है "ज्योतिषियों ने माधावी के लक्षणों की जाँच की है । इसके गर्भ से उत्पन्न होनेवाला बालक चक्रवर्ती राजा बनेगा । सुना मुनी कुमार ? ऐसे लक्षणोंवाली युवती को पा कर कोई भी राजा तुम्हें घोडे दे देगा । माधवी को पाकर वह धन्य होगा । तुम नि:संकोच इसे ले जा ओ।"[1]

'माधवी' एक संघर्षशील नारी की करुण त्रासदी को संप्रेषित करती है । पूरे नाटक में माधवी के जीवन संघर्ष को प्रस्तुत किया है । पिता के वचन तथा प्रेमी की प्रतिज्ञा पूर्ण करने को अपना संपूर्ण यौवन बलिदान कर देती है । प्रशंसाभूखी ययाती का दान दरअसल दान तो नहीं यश प्राप्त करने का साधन है ।"महाराज आप ने यश की लालसा से ऐसा किया है,ताकि लोग कहें कि वनों में रहते हुए भी ययाती दानवीर है, अपनी एकमात्र कन्या को भी दान में दे सकता है ।"[2] माधवी अपने दायित्व को स्वीकार करती है । उसे गालव की गुरुदक्षिणा जुडाने को राजाओं के अंतपुरों में रहना पडता है और उन्हें चक्रवर्ती कुमार को देना पडता है ।इस समय वह खुद मानती है- "वह मेरा स्वयंवर तो नहीं

---

[1]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 21

[2]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 22

होगा,गालव । मैं तो तुला पर चढाई जाऊँगी, कोई राजा घोडे दे कर बदले में मुझे ग्रहण करेगा ।"[1]

राज सभा वास्तव में न्याय का ही क्रीडास्थान है । लेकिन पुरुषमेधा समाज में सभा तो नारियों के लिये अपमान का ही स्थान है । पहले द्रौपदी को उस सभागार में ही अपना चीर नष्ट हो गया। आज उसी तरह माधवी को भी अपमानित होना पडा । पूरी सभा के सामने राजज्योतिषी उसके शरीर की छान बीन करने लगा जैसा कि कोई घोडा या हाथी हो- "ज्योतिष ग्रन्थों में कहा है,महाराज, जिस युवती की पीठ सीधी हो,कपोल तथा नेत्रों के कोए ऊँचे हो,स्तन युगल और नितंब ऊपर को उठे हो....(माधवी की पीठ – पीछे जा कर) कमर पतली हो, केश, दाँत-हाथ, पैर की उँगलियाँ कोमल हो ।"[2]

भारत में नारी की सार्थकता तो मातृत्व में मानी जाती है । नारी के सभी रूपों में माँ का रूप सर्वश्रेष्ठ है । बच्चे का जन्म होते ही माधवी की पीडा और भी करुण होने लगी क्योंकि अपने बच्चे को छोडने केलिए वह विवश है । ऐसा त्याग उसके दुख को और भी त्रासद बना देता है । उसका दुख इन शब्दों में व्यक्त होते है "जन्म देने के साथ हो मेरा बच्चा

---

[1]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 28

[2]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 38

मेरी गोद से छीन गया ।"[1] यह नारी जीवन में सबसे बडी त्रासदी है ।वह अपने धर्म के नाते संतान को छोड कर जाने के लिए विवश है । " मैं तो वह माँ हूँ जिसकी गोद भरते गयी और खाली होते गयी। अब तो संतान धारण करने से ही मुझे डर लगता है । संतान धारण करने को मेरे लिए केवल एक ही अर्थ है-अपने बच्चे को खो देना ।"[2] उपयोगितावादी समाज में मातृत्व के लिए गरिमा नहीं । सब अपने अपने स्वार्थ के लिये आगे बढते है । वैश्विक सभ्यता मानव को इसतरह आगे बढने की प्रेरणा देते है ।

भूमण्डलीकरण ने प्रेम जैसे पुनीत भाव को भी बिकाऊ बना दिया । 'माधवी' में गालव के साथ जाते समय माधवी के मन में अनुराग का उदय हुआ । अनेक राज महलों से गुज़रते समय उसके मन में यही भाव था । वह गालव से कहती है -"तुम मेरा भाग्य बनकर आये हो गालव।"[3]अनुराग में वह सबकुछ सहने को तैयार है । परंतु गालव अपने मंज़िल पाने के बाद,अपनी ज़रूरत पूर्ण हो जाने के बाद माधवी को उसीरूप में स्वीकार ने को तैयार नहीं हुआ । जब गालव देखता है माधवी पहले की भाँति आकर्षक नहीं है, पहले जैसा रूप सौन्दर्य तथा यौवन नहीं है ।अब वह युवती नहीं बल्कि वृद्धा की तरह दिखाई देने

---

[1]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 52

[2]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 53

[3]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 26

लगी है तो वह माधवी के प्रेम को टुकरा देता है तब माधवी उसे समझाती है -"तुम क्या समझते हो गालव, जिस व्यक्ति को मैं रोम रोम से प्रेम करती हूँ, उसके पल्ले में एक बुढिया को बाँध दूगी ? मेरा भी तुम्हारे प्रति कोई कर्तव्य हूँ। प्रेम का भी तो एक कर्तव्य होता है।"[1]

माधवी नाटक में समसामयिक जीवन में मौजूद नारी शोषण तथा अहंग्रस्त समाज को रेखांकित किया है। सुविधाभोगी समाज नारी को मात्र 'वस्तु' मानने को तैयार है । उसकी मन को देखने के लिए पुरुषवर्चस्ववादी समाज तैयार नहीं है। प्रारंभ में ययाती अपने बेटी को किसी निर्जीव वस्तु की तरह दान दे कर उसे अपमानित किया तो बाद में गालव उसके सारे वैभव से अपनी गुरुदक्षिणा पाने के बाद उसे निराश्रय छोड देता है। यहाँ उपयोगितावादी मानसिकता तथा वैश्विक सभ्यता का प्रभाव हम देख सकते है। प्रेम के नाते माधवी ने अपना शरीर समर्पित किया लेकिन उसे न प्रेम मिला और न अपनी गोद से जन्मे बच्चे। सत्ता ने उसे निहत्था बना दिया है।

निम्न मध्यवर्गीय ज़िन्दगी जीनेवाले लोग हमेशा अपनी हैसियत बढाने की कोशिश करते रहते है । इस छटपटाहट में वह कभी अमानवीय बन जाता है। धन दौलत केलिए वह जीवन मूल्यों को कुर्बान

---

[1]भीष्मसाहनी : माधवी: पृ- 95

कर देता है । इस सन्दर्भ में शंकर शेष का 'रक्तबीज' काफी महत्वपूर्ण है। इस नाटक में नाटककार पारिवारिक जीवन की निरर्थकता को चित्रित करके व्यक्ति की महत्वाकाँक्षा को रेखांकित करती है।

पारिवारिक जीवन में धन की वरीयता है । अतः अर्थाभाव से मुक्ति पाना मानव का मकसद है । पहले आदमी धन कमाने को जी तोडकर मेहनत करने के लिए तैयार थे । लेकिन बदलते हुई दुनिया में मेहनत करना नामुमकिन बनगया है । आज के युग में मेहनत के बिना धन कमाना मानव का मकसद है । इसलिए वह अपने युग के अनुसार बदलता है। नाटक में सुजाता के पति सोचते है - "बडा बनता है वह जो इस्तेमाल करते है दूसरों को । जो इस्तेमाल होता रहता है ..... बडा बनना उसके लिए कतई नामुमकिन है । बट डोण्ट फोरगट शर्मा जी ! एव्री थिंग डिमाण्डस प्राइज नथिंग इज फ्री । यहाँ तक लाटरी का इनाम भी नहीं ।"[1] यहाँ बिकाऊ माल के रूप में हर चीज़ को देखने के लिए मानव तैयार है । इसी भूमण्डलीकृत सोच पारिवारिक जीवन में दरारें पैदा करते है । 'रक्तबीज' में शर्मा अपनी पत्नी को बिकाऊ बना देता है । सुजाता पति के लिए बोस के साथ अपना संबन्ध बनाया रखता है । उसे पति ऐसा बना दता है- "तो बचाये रखो अपने सडे हुए मिडिल

---

[1]शंकर शेष : रक्तबीज: पृ-18

क्लास वैल्यूस को और झुलसती रहो हाय हाय के इसी नरक में !..... अब सोचने विचारने को मारो गोली। वन हू एक्ट्स विन्स।"[1]

पत्नी के शरीर को दिखाकर बोस को फँसाने की कोशिश में है शर्मा । उसने उसमें कामयाबी पायी ।पत्नी के सौन्दर्य और शरीर के इस्तेमाल करने को वह हिचकते नहीं । वह किसी भी तरह के 'को-ओपरेशन' को मंज़ूर है। मण्डीकरण ने मानव को इतना गिरा दिया है। उसका फल जल्दी मिला। शर्मा कहता है- " लगता है अभी भी नशे में हो। हम नहीं वह। मेरा प्रमोशन .. तुम्हारा एपाइंटमेंट। वहाँ तो कुल मिलकर होते थे आठ सौ, उसमें खा जाती थी तीन सौ तुम्हारी विधवा भाभी और उसके बच्चे। अब होंगे ढाई हजार ..... बढा दो उनका भी अलाउन्स।"[2]

भूमण्डलीकृत समाज में नर नारी को केवल एक उपभोग की वस्तु की तरह देखते है। यहाँ सुजाता जैसी नारियों को जाल में फँसाने में पुरुष सफल हो पाया। वह तो अपने वर्ग को प्रतिनिधित्व करते है। आज ऐसा ही जमाना है- "हर चीज़ को कमोडिटी की तरह देखनेवाली तुम्हारा हिसाबी निगाह , लेकिन मुझे कभी नहीं रोक पाये तुम। मेरी बात सुनने के बाद उसने खिलाफ फैसला करने की यंत्रणा सहनी पडी

---

[1]शंकर शेष : रक्तबीज: पृ-19-20

[2]शंकर शेष : रक्तबीज: पृ-34

तुम्हें .... स्त्री को एक कमोडिटी की तरह खरीदते रहे । इस्तेमाल करते रहे शराब के साथ तंदूरी मुर्गी की तरह ।"[1] जो भी हो नाटककार ने समसामयिक सामाजिक मानसिकता को अपने आप समेटा है । बदलते हुए सामाजिक जीवन में इस्तेमाल का उत्तर इस्तेमाल से देना है । "वेरी गुड बी प्राग्मैटिक । इट पेज । उसने तुम्हारा इस्तेमाल किया,तुम उसका करो । पोज देट यू आर मेड फोर ईच अदर । लेकिन असलियत में सारे संबन्ध वेस्ट है .... यूज इच अदर। पर जानते हो हू बिकम्स ग्रेट ? वही जो दूसरों का इस्तेमाल करते है,लेकिन अपना इस्तेमाल नहीं होने देता है । जमाओ अपने बोस को । यूज हिम ।"[2]

अंत में देखा जाय तो भूमण्डलीकृत सामाजिक नीति ने शर्मा और सुजाता का जीवन त्रासद बना दिया है । भौतिक सुख-सुविधा के पीछे भाग जाने से उसका पारिवारिक जीवन टूट जाता है । महत्वाकाँक्षा की आग में उसने अपने आप को जला दिया है ।

नुक्कड नाटक में बाज़ारवादी ताकतों का प्रभाव स्पष्ट रूप से हुआ है । नुक्कड नाटकों में आम आदमी के तनाव, संघर्ष तथा नवउपनिवेशवादी ताकतों के प्रतिरोध का स्वर व्यक्त हुआ है । साम्राज्यवादी ताकतों से जंग बोलने में नुक्कड रंगकर्मियों ने महत्वपूर्ण

---

[1]शंकर शेष : रक्तबीज: पृ-38

[2]शंकर शेष : रक्तबीज: पृ-53

योगदान दिया ।जन विरोधी ताकतों के विपक्ष में आ कर आम आदमी की रक्षा करना उनका अपना फर्ज मानते थे। शोषण और दमन से उत्पीडित ज़ इनसानों को संगठित करने एवं हक की लडाई लडने की प्रेरणा देने में नुक्कड नाटक की भूमिका सराहनीय है ।

नुक्कड रंगकर्मियों ने आम आदमी के प्रवक्ता बनकर उनकी समस्याओं को वाणी देने का प्रयास किया । 'छः पैसे का रुपया' ऐसी सच्चाई की दास्तान है । उपभोक्तावादी समाज में भारत जैसे राष्ट्रों की संघर्षरत जीवन उसमें अभिव्यक्त है । नाटक में रुपया स्वयं पात्र बनकर आता है । वैश्वीकरण के वजह रुपये का मूल्य कैसे नष्ट हो जाता है । उसका पर्दाफाश करता है । इसमें नाटककार साम्राज्यवादी ताकतों के सामने सिर झुकानेवाली तीसरी दुनिया की अंधी नीति को दर्शाया है । हमारी मामूली सी दिन चर्याओं में भी दखलन्दाज़ करके हर पल साये के समान हमारा पीछे करनेवाली बाज़ारी सभ्यता का चित्रण इसमें हुआ है । आई.एम. एफ. जैसे विश्वबैंकों की कूटनीति का परिचय भी यहाँ उपलब्ध है ।"वेल्ड बैंक का कहना है दवाएँ महंगी करो आबादी अपने आप कम हो जायेगी।"[1]सत्ताधारियों को देश के जनता की भलाई करना है । लेकिन अपने स्वार्थ से वशीभूत होकर उन्होंने विश्व बैंक की शर्तों को स्वीकार

[1],नुक्कड जनम संवाद अंक 16-17 : छः पैसे की रुपया: पृ-76

की है । 'संघर्ष करेंगे जीतेंगे' नामक नुक्कड नाटक में भी आथिक क्षेत्र में व्याप्त औपनिवेशिक ताकतों का प्रभाव देखा जा सकता है । आज आम आदमी के जीवन में आई.एम.एफ का प्रभाव पडता ही रहता है । अपनी जीवन की हर जरूरतों में उसका ही प्रभाव है जैसा टूथपेस्ट,पाउडर,वस्त्र। अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी ताकतें किस प्रकार भारत को अपने जाल में फंसा रही है ,इसका प्रमाण है यह नुक्कड नाटक । पब्लिक सेक्टर को प्राईवेट में बदलना, बिजली, पानी तथा रेल को भी गिरवी में रखना इसका ही परिणाम है । 'हल्ला बोल' में भारतीय निम्नवर्ग का घिनौना जीवन अभिव्यक्त है । मज़दूर वर्ग को कम वेतन देकर लाभ उठाना बहुराष्ट्रीय कंपनियों का अपना तरीका है । उसमें ठेकेदारी प्रथा का भी चित्रण है। ठेके के मज़दूरों को कम वेतन देना है, बोनस,बीमा जैसे कुछ भी देने की जरूरत नहीं है । अतः इसमें मज़दूरों के नारा यह है- "ठेकेदारी का अंत करो । इस बीमारी का अंत करो।"[1] शोषण, भृष्टाचार और अनैतिकता के दायरों में फंसा हमारा रोजमरा जीवन जिससे उभरने केलिए जन सामान्य में चेतना जगाने का काम सफदर हाशमी ने किया है । इसके साथ साथ आम जनता की दर्दनाक जीवन स्थितियों को अंकित करना उनका लक्ष्य है । नाग बोड्स के 'कंपनी' शीर्षक नाटक में भी सौदागिरी सभ्यता का चित्रण व्यक्त हुआ है ।

---

[1],सफदर हाशमी : हल्ला बोल: पृ-11

बाज़ारवादी उपभोक्ता संस्कृति में इनसानियत नहीं के बराबर है । उनका मकसद मुनाफा भी है । कंपनी में सुविधाभोगी अफसर वर्ग का चित्रण हुआ है । तथा सुविधाओं के बीच मानवीय संवेदनाएँ कैसे नष्ट हो जाती है उसकी भी अभिव्यक्ति हुई है ।

भूमण्डलीकरण सांप्रदायिकता को बढावा देता । संघर्ष के बीच अपने हथियारों को बाज़ार मिलना आसान है ।इसको भी नुक्कड नाटक अपने कलेवर में समेटा है । 'अपहरण भाईचारे को' इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है । भारत अपनी एकता और अखण्डता के नाम पर प्रसिद्ध है । लेकिन सांप्रदायिकता के वज़ह यहाँ भी अन्दर विद्रोह उपस्थित हुआ । आज लोग समझता है कि हमारे भाई चारे का अपहरण हुआ है । जमुरा उसकी खोज में है । अमेरिका से आये हुए रिंगमास्टर सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन देते है । उन्होंने पहले सरकारी तौरपर अपना जाल फैलाया उसके बारे में जमुरा कहती है- "खुद प्रधानमंत्री जी बहुत बडे पशु प्रेमी है । उन्होंने कुछ दिन पहले अयोध्या में खासतौर पर सांप्रदायिकता केलिए क्या कहते है-अभयारण्य बनाया है ।"[1]प्रधानमंत्री की ओर से इतनी सहायता पहूँचाने की बाद रिंगमास्टर खुद इसी काम में है । हिन्दूसेना भवन, इस्लाम फौज भवन, सिख सेना भवन आदी को इसके

[1]सफदर हाशमी : अपहरण भाईचारे को: पृ-33

लिए सहायता पहूँचाते है । एकता को खत्म करके जनता को संत्रस्त करना अमेरिका की नीति है । भयावह वातावरण को तैयार करके शासन के बागडोर अपने हाथ में लेना उनके ही नया तरकीब है । यहाँ भाईचारा उसे चेतावनी देता है कि भारत अखंड है "खामोश,खामोश, खामोश । नहीं बाँटेंगे यहाँ पर त्रिशूल, नहीं उठेंगे खालिस्थान के नारे, नहीं निकलेंगे मज़हबी तलवारें । यह हिन्दुस्थान है। यहाँ पर सब अमन लेने से रहेंगे । हिन्दू-मुस्लीं,सिख ,ईसायी भाई भाई की तरह रहेंगे।"[1] लेकिन अपनी नीति से अमेरिका के रिंगमास्टर उस भाईचारे को घायल पहूँचाते है । यहाँ तो धर्म की संकीर्णता की वजह मनवीयता के कत्ल करके जनता में फूट डालना उनक मकसद है । इस तरह देखा जाय तो नुक्कड रंगकर्मियों ने भी भूमण्डलीय प्रभाव को अपना विषय बनाया है और जनपक्ष में रह कर उसकी अमानवीयता को दिखाने का प्रयास भी किया है ।

निष्कर्ष

संक्षेप में कहा जाय तो भूमण्डलीकरण का लक्ष्य सब चीज़ को बिकाऊ बना देना है। अमानवीय शोषण की माहौल उपस्थित करना है ,साम्राज्यवादी ताकतों को लौटाना है।इसका असर पारिवारिक जीवन

---

[1]सफदर हाशमी : अपहरण भाईचारे को: पृ-38

में भी पडना स्वाभाविक है । सुविधाभोगी बना देनेवाले विज्ञापन और उसके प्रभाव से मानव जीवन असंपृक्त नहीं है । अंतहीन महत्वाकाँक्षा, संबन्धों को भी बिकाऊ बने देने की मानसिकता, अमानवीय व्यवहार आदि के रूप में मंडीकरण भारतीय परिवार को कुचल रहा है। उससे बचपाना कठिन ही है ।वैश्विक समाज में नारी जीवन और भी त्रासद बन जाता है । नर अपने विलास की आग में नारी को सिर्फ एक कमोडिटी ही मानते है । पारिवारिक जीवन में भी बाज़ारी प्रभाव दृष्टव्य है । पति-पत्नी के संबन्ध पुनीत मानते थे लेकिन नवउपनिवेशवादी ताकतों ने वहाँ भी दरारें खडा कर दिया है । दरअसल कहा जाय तो भूमण्डलीकरण ने भारतीय सामाजिक जीवन के आधारभूत संस्था रूपी परिवार को भी चूर-चूर कर देने में अहं भूमिका निभाई है ।

उपसंहार

भारतीय जीवन में परिवार का स्थान सर्वोपरी है । यहाँ परिवार को सनातन मानते है । परिवार मानव जीवन की आधारभूत संस्था है । सामाजिक जीवन के नींवाधार वास्तव में पारिवारिक अवधारणा है । इसलिए व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रय को बनाये रखने में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण है । आज़ादोत्तर सामाजिक वातावरण ने पारिवारिक जीवन में भी बहुआयामी परिवर्तन उपस्थित किया है । द्वितीय महासमरोत्तर मानवीय जीवन में औद्योगीकरण एक अनिवार्य हिस्सा बन गया है । इससे परिवार रूपी मानव की चिरंतन और सनातन इकाई का भी ध्वंस होने लगा ।

भारतीय पारिवारिक अवधारणा सब से महत्वपूर्ण है । सामाजिक मूल्य उसकी आधार शिला है । मूल्य वह है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं का संप्रेषण करता हैं । इसका संबन्ध हर्ष, विषाद, नैतिकता, आचार, व्यवहार आदि तत्वों से है जो जीवन और परिवेश से संबद्ध है । अतः व्यक्ति के मूल्य परिवेशगत गुणों पर आश्रित है। इससे मूल्य को यों परिभाषित किया जा सकता है कि मूल्य वह अवधारणा है जो मानव को पशुता से दूर लाकर, उसे उन्नति की ओर अग्रसर करती है । वास्तव में यही मूल्य मानव जीवन की आधार शिला है । समाज और व्यक्ति के निर्माण इन्हीं के द्वारा ही संभव

है । परिवेश के अनुसार मूल्यो में परिवर्तन तो आता हैं लेकिन समाज कल्याण का भाव उसमें हमेशा शामिल रहता है ।

मूल्य बदलाव के अनेक कारण है । औद्योगिक क्रांति और विज्ञान की प्रगति ने मूल्य परिवर्तन की गति को तीव्रता प्रदान की है । इसके प्रभाव से संपूर्ण विश्व में तीव्रगामी परिवर्तन आ चुके हैं । अब तक समाज और व्यक्ति के ऊपर धर्म की पकड थी, औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप धर्म की प्रभुता कम होने लगी । भारत भी इसके प्रभाव से असंपृक्त न था । अतः मानव जीवन में भावुकता कम होने लगे तथा उसका स्थान बौद्धिकता ने हासिल किया । बौद्धिकता ने उपभोगवादी संस्कृति को जन्म दिया, जिससे जीवन निरर्थक एवं क्षणिक सिद्ध हुआ । बदलती मूल्य परिकल्पना ने पारिवारिक मूल्यों में भी खाइयाँ पैदा की है । आज संयुक्त परिवार टूट कर अणु परिवारों में परिणत हुआ, पारिवारिक संबन्धों के बीच नवीनता उपजने लगी । दूसरी स्त्री एवं तीसरे आदमी की खोज ने आज के पारिवारिक जीवन में नई समस्याओं को पैदा किया है ।

मूल्य संबन्धी विभिन्न अवधारणाओं की चर्चा करते हुए हम इस नतीजे पर आ जाते है कि मूल्य मानव जीवन के अनिवार्य और आवश्यक अंग है जो मानव को सुन्दरता की ओर ले जाता है तथा साथ ही साथ

समाज को शिवमय बना देता है । अतः उसमें देशकाल और समय के अनुसार बदलाव आने पर भी उसकी महत्ता अपराजेय है।

स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में बदलते हुए पारिवारिक जीवन का रेखांकन हुआ है। पति -पत्नी के बीच उपजी नयी समस्याओं का अंकन करते हुए बदलते दाँपत्य जीवन की विभिन्न झाँकियों को प्रस्तुत करके नाटक मानव जीवन से अपना संबन्ध जोडते है।

आज़ादोत्तर भारतीय पारिवारिक जीवन में कई समस्यायें दिखाई देती है । उसमें पीढी दर पीढी के बीच का संघर्ष महत्वपूर्ण है । समसामयिक मूल्यहंता समाज में अनुज और अग्रज पीढी में ऐसा विच्छेद उपस्थित हुआ है, जिससे संपूर्ण पारिवारिक जीवन टूटने लगा । संबन्धहीनता से उत्पन्न संवादहीनता उसके मूल में है। भारतीय संयुक्त परिवारों के विघटन में यही समस्या है । पीढियों का संघर्ष सिर्फ व्यक्तियों का संघर्ष नहीं, मान्यताओं, मूल्यों की टकराहट भी है। हिन्दी नाटकों में बदलते पारिवारिक स्वरूप तथा पीढी दर पीढी के द्वंद्व को लेकर विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, शंकर शेष, जैसे नाटककारों ने नाट्य सृजन किया है।

संयुक्त परिवारों का विघटन तथा अणुपरिवारों का प्रादुर्भाव स्वातंत्र्योत्तर समय की प्रवृत्ति है। पुराने मूल्यों के पुरेधा अधुनिक मूल्यों

को जीवन के लिए निरर्थक मानते हैं तो नई पीढी परंपरा को तोडने में तुली हुई । विष्णु प्रभाकर का नाटक 'टूटते परिवेश' इस सन्दर्भ में काफी महत्वपूर्ण है । बदलते पारिवारिक जीवन और बिखरते संयुक्त परिवार की दास्तान है 'टूटते परिवेश' । यहाँ व्यक्तिवादी विचारों एवं व्यक्ति सुख की खोज में भटकती हुई नई पीढी को चित्रित करके, अकेले, निर्वासित होते बुजुर्गों के करुण क्रन्दन को नाटककार ने शब्दबद्ध किया है । इस तरह वैवाहिक जीवन में मौजूद नवीनता को भी, दाँपत्य की पुनर्परिभाषा को भी उदघाटित किया गया है । मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' आधुनिक मानव की समस्त समस्याओं को अपने कलेवर में समेटता हैं । वर्तमान पीढी के युवा वर्ग में जो बढता हुआ असंतोष और विद्रोह भटक रहा है, उसका चित्रण में भी नाटक समर्थ है । पति-पत्नी के बीच जो संघर्ष है उसका प्रभाव बच्चों पर भी पडना स्वाभाविक है, इसतरह बनते बिगडते पारिवारिक त्रासदी की दास्तान है 'आधे अधूरे' । शान्ती मेहरोत्रा का 'ठहरा हुआ पानी' भी पीढी दर पीढी की टकराहट के संन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं । अपने पिता के हुकुम के कारण, उनकी दो बेटियाँ सीता और रमा को ऐसा लगती है कि घरवालों ने उन्हें जिन्दा दफना दिया हैं । रमेश बक्षी के 'तीसरा हाथी' में भी क्रूर तानाशाह पिता की सत्ता के नीचे दबकर दम घुटनेवाले बच्चों के त्रासद जीवन उभर कर आता है । कुल मिलाकर कहा जाय तो यहाँ पारिवारिक जीवन के संघर्ष

पूर्ण पहलूओं को पर्दाफाश करके समसामयिक पारिवारिक जीवन की अर्थ हीनता का लोकार्पण हुआ है ।

औद्योगिक क्रांति ने नये नये आविष्कारों को जन्म दिया है । भारत में भी बडे बडे उद्योगों का प्रारंभन हुआ । जहाँ इस तरह के उद्योगों की संस्थापना हुई उस स्थान और वहाँ के वातावरण जल्दी विकास की ओर अग्रसर होने लगे । स्वातंत्र्योत्तर समय में भारत के नवयुवक नौकरी की तलाश में गाँव छोडकर ऐसे उद्योगों के करीब आने लगे। इससे शहरों का निर्माण हुआ । आबादी वृद्धि और कारखानों की बहुलता से नगरों का विस्तार हुआ । नगर महानगरों में तब्दील होने लगे । ऐसे महानगरीय वतावरण में व्यक्ति जीवन अवसाद जन्य बन जाते है तो पारिवारिक संबन्धों मे भी निरर्थकता का उपजना स्वाभाविक है ।

महानगरीय जीवन में मानव को बहुआयामी समस्याओं का सामना करना पडा जो उनके जीवन को दूभर बना देते है । अकेलापन महानगरीय जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या है । महानगर में सब कहीं भीड ही भीड है फिर भी उस भीड में व्यक्ति अपने आपको अकेला महसूस करता है । सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'द्रौपदी' में अकेलापन की व्यथा भोगनेवाली नारी की त्रासदी अंकित हुई है । पति और बच्चों के साथ रहने पर भी वह अपने आप को अकेला महसूस करती है । यहाँ

आधुनिक अणुपरिवारों में व्याप्त आत्मकेन्द्रित मानसिकता को मंच पर लाने का प्रयास देखा जा सकता है। शंकर शेष के 'घरौंदा' नाटक में भी महानगरीय घटना हीन, प्रेमहीन जीवन उभर कर आता है। व्यक्तिवादी होने के नाते सुदीप परंपरा को अनदेखा कर के पाप-पुण्य को देखता है।

महानगरीय परिवेश में मूल्यों में बहुधा परिवर्तन आ रहे हैं। नैतिक पतनशील युग में अविवाहित बिस्तरबाजी स्वीकृति प्राप्त जीवन मूल्य बन गया है। अनबुझा काम तथा टूटते पारिवारिक जीवन के दस्तावेज है 'वामाचार'। नाटकार मुद्राराक्षस के नाटकों में भी महानगरीय जीवन की विद्रूपताओं का लोकार्पण हुआ है। 'तेन्दुआ' नाटक के मिसेज मदान और रेणुराय दोनों विकृत वासना के प्रतीक है,जो सैक्स की भयानकता में ही रस पाते है। नयी सभ्यता ने मानव को इनसानियत से हीन, मशीन-सा बना दिया। उससे मानव जीवन का दिशाहीन, पथभृष्ट बन जाना स्वाभाविक है।

शहरीयता की आड में पनपने वाली अमानवीयता का अनावरण करने में नाटककारों ने विजय हासिल की । ज़िन्दगी के घृणात्मक पहलूओं को व्यक्त करते हुए, मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण इकाई में मौजूद अपसंस्कृति को रंगमचीय प्रस्तुती देना इन्हीं नाटककारों का मकसद हैं। महानगरीय जीवन की विभिन्न समस्याओं को, जिससे पारिवार का ध्वंस हो जाते है, इसके अंतर्गत समेटा हुआ हैं।

आधुनिक युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना स्त्री शिक्षा ही है क्योंकि नारी युगों से अज्ञान के वास्ते हाशिए की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त थी । स्त्री शिक्षा से नारी समाजिक जीवन में अपनी भूमिका निभाने केलिए तैयार हुई । आज वह बराबरी की हैसियत पाने केलिए लड रही है । शिक्षित औरत अब नौकरी करने को तैयार हुई । इसतरह कामकाजी बन कर आर्थिक स्वावलंबन प्राप्त करना उनका लक्ष्य बन गया है । अपने स्वत्व को पहचान कर नारी आत्मनिर्भर बनने केलिए घर से बाहर आने को तैयार हुई । ऐसी स्वतंत्र कामना से नारी जीवन में अनेक समस्यायें जन्म लेती है, जो उनके पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को संघर्षपूर्ण बना देता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में कामकाजी नारी जीवन की संपूर्ण समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है । पुरुषमेधा सामाजिक वातावरण में अब तक मर्द गृहस्थी को संभालते थे । लेकिन शिक्षा के मुताबिक नारी आज धनोपार्जन कर रही है । इससे पारिवारिक जीवन में तनाव उत्पन्न होता है । आत्मनिर्भर बनने की नारी की कोशिश स्त्री-पुरष संबन्धों के बीच खाईयाँ उपस्थित करती है । 'बिना दीवारों का घर' नाटक ऐसे नारी संघर्ष की दास्तान है । शोभा एक ओर आत्मनिर्भर बन जाती है तो दूसरी ओर बेघर हो जाती है । कामकाजी नारी की दोहरी भूमिका,पति की अहंग्रस्त मानसिकता दोनों की टकराहट से शोभा को अपना जीवन

नष्ट हो जाती है । कमाऊ औरत होने के नाते कहीं नारी को अविवाहित रहना पडता है । ऐसी त्रासदी को प्रस्तुत करने में 'श्वेतकमल' महत्वपूण है । घर से बाहर काम करने के कारण नारी को अपने सहकर्मियों से शोषण भी भोगना पडता है । मुद्राराक्षस के नाटकों में नौकरी पेशा नारी के यौन शोषण का पर्दाफाश हुआ है । 'योअर्स फेथ फुली' में नौकरी पेशा नारी के यौन शोषण की समस्या अभिव्यक्त हुई है । पुरुष मेधा साजिक वातावरण में काम काजी नारी को जितना शोषण सहना पडता है, उसका खुला दस्तावेज है 'योअर्स फेथ फुली'। 'मरजीवा' 'तिलचट्टा' जैसे नाटककों में भी ऐसी कामाकाजी नारी समस्याओं का चित्रण हुआ है । 'देवयानी का कहना है' में देवयानी नारी अस्मिता की खोज करती है । इससे पारिवारिक अवधारणा को कुचलकर स्वतंत्ररूप से रहना चाहती है । मनपसंद पुरुषों के साथ यौन संबन्ध जोडनेवाली 'देवयानी' परंपरा तोड कर नवीन रास्ता अपनाती है । ऐसी नारियों के लिए मातृत्व एक बाधा है । अतः उसने मातृत्व को भी तिरस्कृत किया । एकगामिता से बहुगामिता की ओर उन्मुख होने वाली ऐसी आत्मनिर्भर नारी पारिवारिक अवधारणा के खिलाफ जंग बोल कर सहजीवन को महत्व देती है ।

संक्षेप में कहा जाय तो आज की शिक्षित आत्मनिर्भर नारी माँ के रूप में मात्र सीमित रहने के लिए तैयार नहीं है । आर्थिक स्वतंत्रता ने

स्वत्व को पहाचान दी । इस तरह आत्मनिर्भर नारी पारिवारिक जीवन को नवीन परिभाषा देने की कोशिश करती है।

समसामयिक सन्दर्भ में भूमण्डलीकरण खूब चर्चा का विषय है । दरअसल भूमण्डलीकरण का मतलब विपणन सामग्रियों का अंतर्राष्ट्रीय करण है । जिसमें सपूर्ण विश्व बाजार को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जा सकता है । भूमण्डलीकरण ने प्रत्येक वस्तु को उपभोग के दायरे में ला खडा किया है । कला,साहित्य, संगीत, संस्कृति, संबन्ध यहाँ तक मनुष्य भी ब्रांड के रूप में इस श्रेणी में शामिल है । उपभोग क्या है ? खाया-पचाया मन भर गया तो फेंक दिया । उसी प्रकार उपर्युक्त सभी चीज़ों का तब तक उपभोग किया जाता है, जब तक वह अपनी रुचि के अनुकूल हो । जो हिस्सा नापसंद है,उसे तुरंत छोड देता है । भूमण्डलीकरण मार्केटिंग के तौर तरीकों से सामाजिक जीवन को ही खरीदी-बिक्री के पैमाने में ढालता जा रहा है । निजी तौर से प्रत्येक चीज़ को अपनी हैसियत से जोडना इसी बाजार की देन है । आज का युवा वर्ग वस्तुओं को अन्धाधुंन्ध तरीके से खरीद रहा है । इसतरह उपभोक्तावादी समाज में सबकुछ बिकाऊ माल बन जाते हैं ।

समाज के सभी परिवर्तनों का प्रभाव पारिवारिक जीवन में भी पडना स्वाभाविक है। भूमण्डलीय सामाजिक वातावरण ने पारिवारिक

अवधारणा चूर चूर कर दिया है। उपभोक्तावादी मानसिकता ने व्यक्ति को इनसानियत से हीन स्वार्थी बना दिया। इससे अपने रिश्तों के प्रति बेवफा होने में वह हिचकते नहीं । विष्णु प्रभाकर,भीष्मसाहनी, शंकर शेष,मुद्राराक्षस जैसे नाटककारों ने ऐसी त्रासदी को रेखांकित किया है। 'श्वेतकमल' तथा 'मरजीवा, जैसे नाटकों में विज्ञापन के दरिए टूटते पारिवारिक जीवन अभिव्यक्त हुआ है । इसके साथ साथ जिस्म केन्द्रित सभ्यता को भी दर्शाया गया है। आज नारी की हैसियत इतनी गिर चुकी है कि वह मात्र मनोरंजन की सामग्री तक सीमित हुई। ' माधवी' में निर्मम नारी शोषण द्रष्टव्य है। इस नाटक में उपभोक्तावादी समाज में मौजूद नारी शोषण का पर्दाफाश हुआ है। अपने मंजिल तक आ पहूचने केलिए नारी को बिकाऊ माल बना देने में स्वार्थी गालव हिचकते नहीं है। 'रक्तबीज' में भी इस्तेमाल के तंत्र के कारण टूटते परिवार उभर आता है । अपनी महत्वाकाँक्षा की पूर्ति के लिए पत्नी को सीढी बनानेवाला पति पूरे जीवन में तनाव महसूस करता है । उपभोक्तावादी नजरिए से देखा जाय तो 'देवयानी का कहना है' भी महत्वपूर्ण है।

समाज और परिवार अन्योन्याश्रित है । अतः भूमण्डलीकरण संपूर्ण समाजिक इकाई को प्रभावित करते है तो परिवार भी उससे असंपृक्त नहीं है। इसलिए आज मनुष्य पहले स्वयं को संतुष्ट करता है फिर रिश्तों व संबन्धों की तरफ ध्यान जाता है।

संक्षेप में कहा जाय तो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों से गुज़रते समय देखा जा सकता है कि विष्णुप्रभाकर, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, शंकर शेष, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस, मन्नूभण्डारी, शाँति मेहरोत्रा, मृदुला गर्ग, जैसे नाटककारों ने भारतीय पारिवारिक स्वरूप के विभिन्न आयामों को शब्द बद्ध किया है । इन नाटककारों ने इस बात की और संकेत दिया है कि आज के बदलते हुए जीवन मूल्यों ने व्यक्ति को व्यक्ति निष्ट और व्यक्तिवादी बना दिया है । इससे सामाजिक जीवन में बहुधा परिवर्तन हो रहे हैं । विज्ञान के नये आविष्कार और व्यक्ति के नये विचारों से सामजिक एवं पारिवारिक जीवन में नवीनता उपजती हैं । समाज ओर परिवार दोनों एक दूसरे से अभिन्न है । मानव के चिरंतन और सनातन जीवनाधार परिवार का महत्व तो अनोखा है। अतः उसमें दरारें आ पडने से सामाजिक वतावरण का भी कलुषित होना स्वाभाविक है । इसलिए मानव को देश काल के प्रभाव को स्वीकारते हुए पारिवारिक अवधारणा को भी अपनाना अनिवार्य है नहीं तो अपनी बपौती की गरिमा नष्ट हो जायेगी ।

आधार ग्रन्थ सूची

1.आठवां सर्ग — सुरेन्द्र वर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1976

2.आधे अधूरे — मोहन राकेश, राधकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं1974

3.आषाढ का एक दिन — मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

4.उलझी आकृतियाँ — हमीदुल्ला, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1973

5. एक और अजनबी — मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस

	नई दिल्ली
	सं .1987
6.करफ्यू	लक्ष्मीनारायण लाल
	राजपाल एण्ड सन्स
	दिल्ली
	सं. 1972
7.घरौंदा	शंकर शेष
	राधाकृष्ण प्रकाशन
	दिल्ली
8.जादू का कालीन	मृदुला गर्ग
	राजकमल पकाशन
	नई दिल्ली
	सं. 1993
9.टूटते परिवेश	विष्णु प्रभाकर
	भारतीय साहित्य प्रकाशन
	मेरठ
	सं. 1974
10. तिलचट्टा	मुद्राराक्षस

	संभावना प्रकाशन
	हापुड
	सं. 1973
11 तीन नाटक	सुरेन्द्र वर्मा
	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
	नई दिल्ली
	सं. 1972
12. तीसरा हाथी	रमेश बक्षी
	इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1975
13. तेन्दुआ	मुद्राराक्षस
	राजेश प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1975
11. दरिन्दे	हमीदुल्ला
	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
	नई दिल्ली

	सं. 1975
14.दर्पन	लक्ष्मीनारायण लाल
	पीतांबर बुक डिपो
	नई दिल्ली
	सं. 1972
15. नाटक तोता मैना	लक्ष्मीनारायण लाल
	लोकभारती प्रकाशन
	इलाहाबाद
16.बिना दीवारों के घर	मन्नू भण्डारी
	अक्षर प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1975
17.बिना बाती केदीप	शंकर शेष
	राधाकृष्ण प्रकाशन
	दिल्ली
18. मरजीवा	मुद्राराक्षस
	राजेश प्रकाशन
	दिल्ली

	सं.1974
19.मादा कैक्टस	लक्ष्मीनारायण लाल
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
	नई दिल्ली
	सं .1972
20.माधवी	भीष्म साहनी
	राजकमल प्रकाशन
	दिल्ली
21. योअर्स फेथफुली	मुद्राराक्षस
	राजेश प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1984
22. रक्तबीज	शंकर शेष
	राधाकृष्ण प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.
23. रातरानी	लक्ष्मीनारायण लाल
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस

	नई दिल्ली
	सं .1970
24. रोशनी एक नदी है	लक्ष्मीकांत वर्मा
	भारतीय ज्ञानपीठ
	नई दिल्ली
	सं. 1974
25. लहरों का राजहंस	मोहन राकेश
	राजकमल प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.1964
26. शंकर शेष रचनावली	सं. डॉ विनय
	लोकभारती प्रकाशन
	दिल्ली
27.श्वेतकमल	विष्णुप्रभाकर
	भारतीय साहित्य प्रकाशन
	मेरठ
	सं.1974
28. सफदर व्यक्तित्व और कृतित्व	सफदर

राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली

29. सगुन पंछी — लक्ष्मीनारायण लाल
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद

30.वामाचार — रमेश बक्षी
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
दिल्ली

सहायक ग्रन्ध सूची

1. अंधेर नगरी — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद
सं. 1970

2. अर्थशास्त्र के सिद्धांत — डॉ जोशी
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली

3. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य डॉ हुहुम चन्द राजपाल
भारतीय संस्कृति भवन
जालंधर
सं. 1970

4. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच सं.नेमिचन्द्र जैन
मैकमिलन प्रकाशन
नई दिल्ली
सं. 1978

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी परिषद
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
सं. 1948

5. आस्था और सौदर्य डॉ रामविलास शर्मा
किताब महल
इलाहाबाद

6. आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन
दरियागंज

नई दिल्ली

सं. 1982

7. आधुनिक भारत — आर . शर्मा

संजीव प्रकाशन

मेरठ

सं. 1990

8. आधुनिक परिवेश और नवलेखन — डॉ .शिवप्रसाद सिंह

लोक भारती

इलाहबाद

सं. 1970

9. आज के रंग नाटक — इब्राहिंम अल्काजी, देश

पाण्डे, सुरेशअवस्थी

राधाकृष्ण प्रकाशन

दिल्ली

सं. 1973

10.आज के हिन्दी रंग नाटक — जयेदेव तनेजा

तक्षशिला प्रकाशन

दरियागंज

नई दिल्ली

		सं. 1980
11आज के हिन्दी नाटक : परिवेश और परिदृश्य	जयेदेव तनेजा	
		तक्षशिला प्रकाशन
		दरियागंज
		नई दिल्ली
		सं. 1980
12.आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक	नरनारयण राय	
		भारती भाषा प्रकाशन
		दिल्ली
		सं. 1977
13.आधिनिक हिन्दी नाटक: चरित्र सृष्टि के नये आयाम	डॉ. लक्ष्मीराय	
		तक्षशिला प्रकाशन
		दरियागंज
		नई दिल्ली
		सं. 1980
14.आधुनिक हिन्दी नाटक: रंगमंचीय परिदृश्य	डॉ .ब्रज किशोर	
		जनप्रिय प्रकाशन
		दिल्ली
		सं .1985

15.आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य इन्द्रनाथ मदान
राधाकृषण प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली
सं.1978

16.आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच लक्ष्मीनारायण लाल
साहित्य भवन
इलाहबाद

17आधुनिक भारत में सामजिक परिवर्तन श्रीनिवास एस.एन.
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
सं. 1967

18.आधुनिक परिवार में अभिव्यक्त धर्म संकट :रेखायें और रंग शिवसागर मिश्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

19.आधुनिक हिन्दी उपन्यास डॉ. नरेन्द्र मोह
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली

20.आधुनिक बोध रामधारी सिंह दिनकर

	राजकमल प्रकाशन
	दिल्ली
21.आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	बच्चन सिंह
	लोकभारती प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.1999
22.आलोचना से आगे	डॉ सुधीश पचौरी
	राधाकृष्ण प्रकाशन
	दिल्ली
23.कामकाजी भरतीय नारी	डॉ प्रमीला कपूर
	लोकभारती प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.1989
24.कामकाजी नारी: मनवीय संबन्धों का विघटन	डॉ धनराज
	अक्षर प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.1987
25.कोणार्क : रंग और संवेदना	डॉ नरनारायण राय
	कादम्बरी प्रकाशन

नई दिल्ली
सं. 1987

26.क्या हम जैसी लडकियाँ रघुवीर सहाय
अक्षर प्रकाशन
दिल्ली

27.गुरुकुल अनीता राकेश
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली

28.दुर्ग द्वार पर दस्तक कात्यायनी
परिकल्पना प्रकाशन
लखनऊ
सं. 1998

29.दो रंगधर्मी हस्थाक्षर चन्द्रशेखर मिश्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

30.नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार जयेदेव तनेजा
तक्षशिला प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली

सं. 1998

31.नाटककार सुरेन्द्रवर्मा — डॉ अशोक एस पटेल
चिंतन प्रकाशन
कानपुर
सं. 2009

32.नाट्य भाषा — गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली
सं. 1982

33.नाट्य समीक्षा — डॉ दशरथ ओझा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
सं. 1954

34.नाट्यकला — रघुवंश
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
सं. 1979

35.नाटक और रंगमंच — सीताराम झा 'श्याम'

	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पाटना सं.1982
36.नाटक और रंगमंच	सं. शिवराम माली, सुधाकर गोंकाकर नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली सं. 1979
37.नया नाटक: स्वरूप और संवेदनाएँ	चन्द्रशेखर मिश्र अनामिका प्रकाशन इलाहाबाद सं. 1986
38.नई कविता:स्वरूप और समस्याएँ	डॉ. जगदीश गुप्त भारतीय ज्ञानपीठ वारणासी सं. 1969
39.नयी कहानी की भूमिका	कमलेश्वर राजकमल प्रकाशन दिल्ली

40.नीति प्रवेशिका	अनु. डॉ गोवर्द्धन भट्ट, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
41परिवार	पंचानन मिश्रा ज्ञानपीठ पाटना सं 1957
42.परंपरा बन्धन नहीं	विद्यानिवास मिश्र नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली
43.प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच	सुषमापाल मल्होत्रा राज्यपाल एण्ड सन्स दिल्ली सं. 1985
44.प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक: अवसाद के धरातल पर	सुन्दरलाल कथूरिया पाण्डुलिपि प्रकाशन दिल्ली सं. 1987

45.बाज़ार के बीच:बाज़ार के खिलाफ भूमण्डलीकरण और स्त्री प्रश्न प्रभा खेतान
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली

46.बकरी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
लिपि प्रकाशन
दिल्ली
सं. 1974

47.बीसवीं शताब्दी का हिन्दी रंगमंच शशि प्रभा अत्री
चिंता प्रकाशन
राजस्थान
सं. 1979

48.भारतीय अर्थव्यवस्था जगदीश नारायण मिश्र
किताब महल
दिल्ली
सं. 1979

49.भारतीय नारी स्वामी विवेकानंद
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

50.भारत में अंग्रेजी राज्य भाग 1 सुन्दरलाल

	किताबघर प्रकाशन
	दिल्ली
51.भारत में सामाजिक कल्याण और सुरक्षा	रवीन्द्रनाथ मुखर्जी
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
	दिल्ली
52.भारतीय मध्यवर्ग	श्याम सुन्दर घोष
	भारतीय ज्ञानपीठ
	वारणासी
53.भूमण्डलीकरण और ग्लोबल मीडिया	जगदीश चतुर्वेदी, सुधा सिंह
	अनामिका प्रकाशन
	दरियागंज
	सं. 2008
54.भारतीय सामाजिक संरचना और संस्कृति	शम्भूरत्न त्रिपाठी
	किताब महल
	इलाहाबाद
	सं.1962
55.मूल्य और सहित्य	डॉ. धर्मवीर भारती
	भारतीय ज्ञानपीठ
	वारणासी

	सं. 1960
56.मूल्य मीमांसा	गोविन्द चन्द पाण्डे
	राका प्रकाशन
	इलाहाबाद
	सं. 2005
57.मिस्टर अभिमन्यु	लक्ष्मीनारायण लाल
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
	नई दिल्ली
	सं. 1971
58.मूर्तिकार	शंकर शेष
	आर्य बुक डिपो
	नई दिल्ली
	सं. 1972
59.मोहन राकेश का नाट्य साहित्य	डॉ . धनानंद एस . शर्मा
	शांति प्रकाशन
	हरियाणा
	सं. 1988
60.रंगमंच कला और दृष्टि	गोविन्द चातक
	तक्षशिला प्रकाशन

दरियागंज
नई दिल्ली
सं. 1979

61.रंगदर्शन — नेमिचन्द्र जैन
अक्षर प्रकाशन
दिल्ली
सं. 1967

62.रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक — रघुवरदयाल वार्ष्णेय
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
दिल्ली
सं. 1979

63.रंगमंच और नाटक की भूमिका — लक्ष्मीनारायण लाल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
सं. 1965

64.राजपथ से जनपथ-नाट्य शिल्पी शंकर शेष — डॉ.सुरेश गौतम, डॉ वीणा गौतम
शारदा प्रकाशन
दिल्ली

65.विविध बोधप-नए हस्थाक्षर — डॉ. हुकुमचन्द राजपाल

साहित्य निकेतन
कानपुर

66.विचार और विश्लेषण — डॉ नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
सं. 1971

67.विघटन का समाजशास्त्र — राजेन्द्र जायसवाल
हिन्दी संस्थान प्रकाशन
लखनऊ
सं.1979

68.विष्णु प्रभाकर व्यक्ति और साहित्य — सं, डॉ महीब सिंह
लोकभारती प्रकाशन
दिल्ली

69.समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक — डॉ रमेश गौतम
नचिकेता प्रकाशन
नई दिल्ली
सं. 1979

70.समकालीन हिन्दी नाटक बहुआयामी व्यक्तित्व सुन्दरलाल कथूरिया
साहित्यकार प्रकाशन
दिल्ली
सं. 1979

71.समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच जयेदेव तनेजा
तक्षशिला प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली
सं. 1979

72.समकालीन कहानी:सोच और समय पुष्पपाल सिंह
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
सं. 1986

73.समय और हम जैनेन्द्रकुमार
साहित्यकार प्रकाशन
दिल्ली

74.समकालीन हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक संबन्ध डॉ.ज्ञानवती अरोडा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली

75. समकालीन हिदी नाटकः कथ्य चेतना	डॉ चन्द्रशेखर आत्माराम एण्ड संस दिल्ली सं.1981
76.समकालीन हिन्दी नाटककार	गिरीश रस्तोगी इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली सं. 1979
77.समकालीन हिन्दी उपन्यास	डॉ प्रेमकुमार राजकमल प्रकाशन दिल्ली
78.समकालीन हिन्दी कहानी में बदलते परिवारिक संबन्ध	डॉ ज्ञानवती अरोडा इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली
79.समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक	डॉ शेखर शर्मा भावना प्रकाशन दिल्ली सं.1988
80.सामाजिक विघटन	सत्येन्द्र त्रिपाठी

	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान
	सं. 1979
81.सातवें दशक के प्रतीकात्मक नाटक	रमेश गौतम
	राजेश प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1979
82.साठोत्तरी हिन्दी नाटकों में त्रासद तत्व	मंजुलादास
	पराग प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1988
83.साठोत्तरी हिन्दी नाटक	डॉ.विजयकांतधर दूबे
	नचिकेता प्रकाशन
	दिल्ली
84.साठोत्तर हिन्दी नाटक	डॉ नीलम राठी
	संजय प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.2001
85.साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	देवराज उपाध्याय
	एस चन्द एण्ड कंपनी

	दिल्ली
	सं.1964
86.सामजिक विघटन	सत्येन्द्र नाथ त्रिपाठी
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
	नई दिल्ली
	सं. 1965
87.साहित्यमुखी	रामधारी सिंह दिनकर
	उदायाचल
	पाटना
	सं 1968
88.सुरेन्द्र वर्मा के नाटको में रंगमंचीयता	देवेन्द्र कुमार गुप्ता
	भावना प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1992
89.स्त्रीत्ववादी विमर्श	क्षमाशर्मा
	लोकभारती प्रकाशन
	दिल्ली
90.स्त्री आकांक्षा के मानचित्र	गीतांजली श्री
	नेशनल पब्लिशिंग हाउस

	नई दिल्ली
91.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटको में वस्तु विधान	सुन्दरलाल कथूरिया
	साहित्यकार प्रकाशन
	दिल्ली
92.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ	रमेश गौतम
	अभिरुचि प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1997
93.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक	रामजन्म शर्मा
	लोकभारती प्रकाशन
	दिल्ली
	सं. 1985
94.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक विचार तत्व	अवधेश गुप्ता
	नीरज बुक सेंटर
	दिल्ली
95.हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य	डॉ मोहिनी शर्मा
	साहित्यागार
	जयपुर

	सं. 1986
96.हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य	रमेशचन्द्र लावनिया
	अमित प्रकाशन
	गासियबाद
	सं. 1973
97.हिन्दी रंगकर्म : दिशा और दशा	जयदेव तेनेजा
	तक्षशिला प्रकाशन
	दरियागंज
	नई दिल्ली
	सं. 1979
98.हिन्दी नाट्य परिदृश्य	सं . डॉ धीरेन्द्र वर्मा
	प्रकाशन संस्थान
	नई दिल्ली
	सं. 2004
99.हिन्दी नाटक मूल्यचिंतन और रंगदृष्टि	ओम प्रकाश सारस्वत
	शाश्वत प्रकाशन
	दिल्ली
	सं.1997

100.हिन्दी नाटक के प्रमुख हस्थाक्षर	डॉ.रामकुमार गुप्ता अमर प्रकाशन मथुरा
101.हिन्दी नाटक: आज कल	जयदेव तनेजा तक्षशिला प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली सं. 1979
102.हिन्दी नाटक मिथक और यथार्थ	रमेश गौतम अभिरुची प्रकाशन दिल्ली सं. 1997
103.हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा काशी सं. 1990
104.हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ .नगेन्द्र एवं सुरेशचन्द्र गुप्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली

	सं. 1976
105.हिन्दी एकांगी का रंगमंचीय अनुशीलन	भुवनेश्वर महतो
	अन्नपूर्णा प्रकाशन
	कानपूर
106.हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास	राजनाथ शर्मा
	विनोद पुस्तक मंदिर
	आग्रा
	सं. 1980
107.हिन्दी नाटक उत्भव और विकास	दशरथ ओझा
	राजपाल एन्ड सन्स
	दिल्ली
	सं. 1984
108.हिन्दी नाटक के सौ वर्ष	सं. बालेन्दु शेखर त्रिपाठी,
	बदाम सिंह रावत
	गिरिनार प्रकाशन
	गुजरात
	सं. 1990
109हिन्दी नाटक	बचन सिंह
	राधाकृष्ण प्रकाशन

दिल्ली

सं. 1989

110.हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि का विकास शांति मालिक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई दिल्ली

सं. 1971

111.हिन्दी नाटक और रंगमंच ब्रेख्त का प्रभाव डॉ . सुरेश वसिष्ठ

प्रेम प्रकाशन

दिल्ली

सं. 1995

112.हिन्दी नाटक और और रंगमंच सं. रजकमल

बोरा,नारायण शर्मा

लोकभारती प्रकाशन

दिल्ली

113.हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंग यात्रा

डॉ.चन्द्रशेखर मिश्र

साहित्य निकेतन

कानपुर

114.हिन्दी काव्यों में नारी डॉ.वल्लभदास तिवारी

तक्षशिला प्रकाशन
नई दिल्ली

115.हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष — डॉ .गिरीश रस्तोगी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
सं.2002

कोश

1.हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 — सं. धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वारणासी
सं. 1984

2. हिन्दी साहित्य कोश भाग — सं.धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वारणासी
सं. 1984

3. हिन्दी विश्व कोश 9 — सं. रामप्रसाद त्रिपाठी
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी
सं. 1967

4. मानक हिन्दी कोश 5 खण्ड — सं. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1996

संस्कृत

1.अष्टाध्यायी — पाणिनी, चौखांबा संस्कृत संस्थान, वारणासी

2. नाट्यशास्त्र — भरतमुनी, ओरिएण्टल इंस्टीटयूट, बडौदा

3. वात्मीकि रामायण — वात्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर

4. संस्कृत साहित्य का इतिहास — सेठ पोददार, ओरिएण्टल इंस्टीटयूट, बडौदा

5. देवीमाहात्म्यं — वेदव्यास, गीता प्रेस

गोरखपूर

पत्र- पत्रिकाएँ

1. आजकल मार्च 1997
2. अनुवाक पत्रिका जनवरी 1989
3. आलोचना 1982
4. उद्भावना जून 1990
5. उत्तरार्द्ध मई 1983
6. उत्कर्ष नवंबर 1998
7. कल्पना फरवरी 1978
8. कथन मार्च 1996
10. धर्मयुग नवंबर 1975
11. नटरंग 1982,83,84,89,90
12. नया पथ जनवरी मार्च 1989
13. निकष 1989
14. रंगदर्शन जून 1997
15. युगचेता सितंबर 1986
16. लहर अक्तूबर 1987
17. वातायन मार्च 1992
18. विग्रह जनवरी 1987

19. विशाल भारत नवंबर 1987

20. वर्तमान साहित्य जूलाई1989

21. समीक्षा अप्रैल 1987

22. सरिता नवबंर 1989

23. समकालीन भारतीय साहित्य दिसंबर 2002

24. सारिका मार्च 2002

25. हंस जून 1992

26. ज्ञानोदय मार्च 1998

English

1. A Modern Introduction to family	Norman W. Bell and Izra London 1960
2. A Study of opinion regarding Marriage &Divorce	Dr. Kuppuswamy Bombay 1957
3. Encyclopaedia of Britannica V.22	William Benton Chicago 1959
4. Fundamentals of Ethics	W.M. Urban London 1965
5. Love, Marriage and Sex	Dr.Promilla Kapur Delhi 1973
6. Marriage for Moderns	Henry A. Bowman New York 1970
7. Philosophy of Values	M. Hirriyana Delhi 1972
8. Religion and Modern mind	W.T. Stes New York
9. Sex and Marriage in India	A.K.Sur Calcutta
10. The Family and Sexual Revolution	Edwin M. Schur London 1964
11. The Social Structure of Values	R.K. Mukherjee Bombay 1962

12. The Source of Values	Stephen C. Papper California 1958
13. Urban Behavior	Gordan Ericksen New York 1954
14. Urbanisation and Family Chang	M.S. Gore Bombay 1968